विवेक-ज्योति

वर्ष ४९ अंक ५ मई २०११

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई २०११

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४९
अंक ५

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३,५००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है ।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें ।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें ।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय ।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा ।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है ।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें । यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें ।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें । उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा ।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है । यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें ।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें ।

पुरखों की थाती

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन् किं करिष्यसि ।
स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये ।।३८।।

– जो कुछ उत्तम लगे उसे आज ही कर डालो, क्योंकि वृद्ध होने के बाद क्या करोगे? उस समय तो अंगों में दुर्बलता आ जाने से शरीर ही एक बोझ-सा हो जायेगा।

अरौ अपि उचितं कार्यम् आतिथ्यं गृहम् आगते ।
छेत्तुं अपि आगते च्छायां नोपसंहरते द्रुमः ।।३९।।

– घर में आये हुए शत्रु का भी हर प्रकार से वैसे ही स्वागत-सत्कार करना उचित है, जैसे वृक्ष काटने के लिए पास आये हुए व्यक्ति के ऊपर से भी अपनी छाया को नहीं हटा लेता।

अवश्यं लभते कर्ता फलं पापस्य कर्मणः ।
घोरं पर्यागते काले द्रुमः पुष्पमिवार्तवम् ।।४०।।

– जैसे ऋतु आने पर अपने आप ही वृक्ष पर फूल खिल जाते हैं, वैसे ही पाप करनेवाले को समय आने पर उसका भयंकर फल अवश्य भोगना पड़ता है।

अन्तः तृष्णोपतप्तानां दावानलमयं जगत् ।
भवति अखिल-जन्तूनां यदन्तः तद्बहिः स्थितम् ।। ४१

– जिन लोगों का हृदय तृष्णा के ताप से जल रहा है, उनके लिए यह सारा जग ही दावानल के समान है। सभी प्राणियों के अन्तर में जैसा होता है, वैसा ही बाहर भी बोध होता है।

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति ।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति ।।४२।।

– अन्यायपूर्ण उपायों से कमाया हुआ धन केवल दस वर्ष तक ही घर में टिकता है, ग्यारहवें वर्ष वह समूल रूप से नष्ट हो जाता है।

अपि मेरुसमं प्राज्ञम् अपि शूरमपि स्थिरम् ।
तृणीकरोति तृष्णैका निमिषेण नरोत्तमम् ।।४३।।

– कोई व्यक्ति चाहे मेरु पर्वत जैसे विशाल ज्ञानी हो, या महा शूर-वीर हो, या स्थिरबुद्धि हो, तृष्णा-कामना ऐसे श्रेष्ठजनों को भी पलक झपकते ही तिनके-सा क्षुद्र बना देती है।

अभयस्य हि यो दाता तस्यैव सुमहत्फलम् ।
न हि प्राणसमं दानं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।।४४।।

– जो व्यक्ति सबको अभय प्रदान करता है, उसे महान् फल की प्राप्ति होती है, क्योंकि तीनों लोकों में प्राणदान के समान अन्य कोई दान नहीं है।

अभ्यासिनामेव लभ्या अपि विद्याश्चतुर्दशा ।
अप्यर्क-मण्डलं भित्वा अभ्यासिनैवेह गम्यते ।।४५

– अभ्यास करनेवाले व्यक्तियों को ही सभी चौदह विद्याएँ प्राप्त होती हैं और अभ्यास करनेवाला सूर्य-मण्डल को भी भेदकर (उच्चतर लोकों में) चला जाता है।

अन्नदानात्परं दानं न भूतं न भविष्यति ।
अन्नेन धार्यते सर्वं जगदेतत् चराचरम् ।।४६।।

– इस संसार में अन्नदान की अपेक्षा उत्तम दान न तो कभी हुआ है और न होगा; (क्योंकि) यह चर-अचरमय (जड़-जंगम) पूरा जगत् अन्न पर ही आश्रित है।

अनन्तानिह दुःखानि सुखं तृणलवोपमम् ।
नातः सुखेषु बध्नीयात् दृष्टिं दुःखानुबन्धिषु ।।४७।।

– इस संसार में दुःख अनन्त हैं और सुख की मात्रा घास के एक टुकड़े के समान है, अतः व्यक्ति को दुखों को ध्यान में रखते हुए सुखों में नहीं बँधना चाहिए। ❖ **(क्रमशः)** ❖

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(मधुवन्ती–कहरवा)

हे रामकृष्ण करुणासागर ।
भर दो मेरे लघु जीवन को,
जो माटी का रीता गागर ।।

भटका फिरता था मृगजल को,
ना समझा था माया-छल को,
अब शरण तुम्हारी आया हूँ,
लेकर निज तृष्णामय अन्तर ।।

झुलसा हूँ भव के तापों से,
आशा में खड़ा हुआ कबसे,
शीतल मम जीवन-प्राण करो,
बरसो मधुमय सीकर बनकर ।।

जीवन अति सूना प्रभु तुम बिन,
हैं बीत रहे दिन पल गिन गिन,
हो द्रवित हृदय में आ जाओ,
अब तो 'विदेह'-पीड़ा तपकर ।।

– २ –

(आसावरी–रूपक)

अब मन कर न प्रभु विस्मरण ।
तज जगत् की मोह-माया, भज उन्हीं के चरण ।।

देख सबकी घोर दुर्गति, जगत्पति होकर व्यथित अति,
रामकृष्ण रूप लेकर, किया भव-अवतरण ।।

धर्म का दीपक जलाया, पूर्व-पश्चिम को मिलाया,
दीनबन्धु दयालु प्रभु ने, किया नर-तन-वरण ।।

कर प्रथम निज शुद्ध अन्तर, ध्यान तब उनका निरन्तर,
जो 'विदेह' चाहता तू, भव-जलधि-सन्तरण ।।

श्रीरामकृष्ण के चरणों में (४)

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

माँ-काली तथा उनके समस्त क्रिया-कलापों को मैं कितनी अवज्ञा की दृष्टि से देखता था। उनको न मानना ही मेरे छह वर्षों के द्वन्द्व का कारण था। परन्तु आखिरकार मुझे उनको स्वीकार करना पड़ा। श्रीरामकृष्ण परमहंस ने मुझे उनके चरणों में समर्पित कर दिया था। अब मेरा विश्वास है कि मेरे हर छोटे-से-छोटे कार्य में भी वे ही मुझे संचालित कर रही हैं और उनकी जो भी इच्छा है, मेरे द्वारा करा रही हैं।... तथापि मैं दीर्घ काल तक उनके विरुद्ध संघर्ष करता रहा। वस्तुत: मैं श्रीरामकृष्ण से प्रेम करता था और वही मुझे स्थिर बनाये रखता था।

मैंने उनके जीवन में अद्‌भुत पवित्रता देखी।... मैंने उनके अद्‌भुत प्रेम का अनुभव किया।... तब तक मेरे मन में उनकी महानता का विचार तक नहीं उठा था। वह सब तो बाद में – जब मैं समर्पण कर चुका – तब समझ में आया। उसके पहले मैं सोचता था कि वे एक विकृत-मस्तिष्क शिशु हैं, जो सर्वदा अलौकिक दृश्य आदि देखते रहते हैं। मुझे माँ-काली से घृणा थी, परन्तु बाद में मुझे भी उनको स्वीकार करना पड़ा।

जिस कारण से मुझे स्वीकार करना पड़ा, वह एक गोपनीय रहस्य है, जो मेरी मृत्यु के साथ ही लुप्त हो जायेगा। उस समय मेरे जीवन के महान् दुर्भाग्य का समय चल रहा था।... और यह घटना एक सौभाग्य के रूप में आयी।... उन्होंने (माँ-काली) मुझे अपना क्रीतदास बना लिया। ठीक ये ही शब्द थे, "तुम मेरे दास बनोगे!" और श्रीरामकृष्ण परमहंस ने मुझे उनके चरणों में सौंप दिया।... अद्‌भुत घटना थी! इसके बाद वे केवल दो वर्ष ही जीवित रहे और उस दौरान वे अधिकांशत: अस्वस्थ रहे। छह महीने के भीतर ही वे अपना स्वास्थ्य और लावण्य खो बैठे।[३३]

कोई यह सोचकर खेद न करे कि उसके मन में श्रद्धा उत्पन्न करने हेतु किसी को बहुत कष्ट उठाना पड़ा है। मैंने सुदीर्घ छह वर्षों तक अपने गुरुदेव के साथ संघर्ष किया और इसके फलस्वरूप मैं इस मार्ग का चप्पा-चप्पा जानता हूँ![३४]

देखो, मेरी निष्ठा कुत्ते के समान है। मेरी समझ में कितनी ही बार भूल हुई है, परन्तु श्रीरामकृष्ण की बात सर्वदा सच निकली है। अब मैं आँखें मूँदकर उनके निष्कर्षों पर विश्वास करता हूँ।[३५]

श्यामपुकुर, २७ अक्टूबर १८८५। हम लोग इन्हें ईश्वर की तरह मानते हैं। जैसे वनस्पति और जीव-जन्तुओं के बीच में कुछ ऐसे जीवधारी होते हैं, जो वनस्पति हैं या जन्तु – यह बतलाना कठिन है, वैसे ही नरलोक और देवलोक के बीच एक ऐसा स्थल है, जहाँ के व्यक्ति के विषय में यह बताना कठिन है कि यह मनुष्य है या ईश्वर।... मैं इन्हें ईश्वर तो नहीं कह रहा हूँ, ईश्वर-तुल्य मनुष्य कह रहा हूँ।... हम लोग इन्हें जो पूजते हैं, वह पूजा मानो ईश्वर की ही पूजा है।[३६]

काशीपुर, ४ जनवरी, १८८६। सोच रहा हूँ, आज वहाँ (दक्षिणेश्वर) चला जाऊँ।... बेलतले में रात को धूनी जलाऊँगा।... एक दवा पाऊँ तो जी-में-जी आये – वह दवा ऐसी हो, जिससे मैंने जो कुछ पढ़ा है, वह सब भूल जाऊँ।[३७]

काशीपुर, ४ जनवरी, १८८६। गत शनिवार को मैं यहाँ ध्यान कर रहा था, सहसा छाती के भीतर न जाने कैसा होने लगा।... सम्भवत: (कुण्डलिनी का जागरण हुआ होगा) इड़ा और पिंगला का बिलकुल स्पष्ट अनुभव हुआ। मैंने हाजरा से छाती पर हाथ रखकर देखने को कहा। कल रविवार था, ऊपर जाकर मैं उनसे (श्रीरामकृष्ण से) मिला और सब बातें उन्हें कह सुनायीं। मैंने कहा, "सबकी तो बन गयी, मुझे भी कुछ दीजिये। सबका तो काम हो गया और मेरा क्या कुछ नहीं होगा?" उन्होंने कहा, "तू घर का कोई प्रबन्ध करके आ, सब हो जायेगा। तू क्या चाहता है?" मैंने कहा, "मेरी इच्छा है, लगातार तीन-चार दिन समाधि-लीन रहा करूँ। कभी-कभी बस भोजन भर के लिए उठूँ!" उन्होंने कहा, "तू तो बड़ी हीन बुद्धि का है। उस अवस्था से भी ऊँची अवस्था है। तू ही तो गाता है – 'जो कुछ है, सो तू ही है'।"...

उन्होंने कहा, "तू घर के लिए कोई व्यवस्था करके आ। समाधिलाभ की अवस्था से भी ऊँची अवस्था हो सकेगी।" आज सबेरे मैं घर गया तो सब लोग डाँटने लगे और बोले, "क्या इधर-उधर घूमते रहते हो ! कानून की परीक्षा सिर पर आ गयी है और तुम्हें न पढ़ना, न लिखना, आवारा-जैसे घूमते-फिरते हो !" (प्रश्न – क्या तुम्हारी माँ ने भी कुछ कहा?) – नहीं, वे मुझे खिलाने में व्यस्त हो रही थीं।...

नानी के घर में, मैं उसी अध्ययन-कक्ष में पढ़ने लगा। परन्तु पढ़ने बैठा, तो हृदय में एक बहुत बड़ा आतंक छा गया, मानो पढ़ना एक भय का विषय हो ! छाती धड़कने लगी ! – इस तरह मैं पहले कभी नहीं रोया। फिर पुस्तकें फेंककर भागा ! रास्ते से होकर भागता गया। जूते रास्ते में न जाने कहाँ पड़े रह गये ! धान के पुआल के ढेर के पास से होकर भाग रहा था। पूरी देह में पुआल लिपट गया। मैं काशीपुर के रास्ते की ओर भाग रहा था। ...

'विवेक-चूड़ामणि' पढ़कर मन और बिगड़ गया है। श्री शंकराचार्य लिखते हैं – **मनुष्यत्वं मुमुक्षत्वं महापुरुष-संश्रयः** – (मनुष्य-जन्म, मुक्ति की आकांक्षा और महापुरुष का सान्निध्य) इन तीन संयोगों को बड़ी तपस्या का फल समझना चाहिए, ये बड़े भाग्य से मिलते हैं। मैंने सोचा, "मेरे लिए तो तीनों का संयोग हो गया है। बड़ी तपस्या का फल तो यह है कि मनुष्य-जन्म हुआ है, बड़ी तपस्या से मुक्ति की इच्छा हुई है और सबसे बड़ी तपस्या का फल यह है कि ऐसे महापुरुष का संग प्राप्त हुआ है !"... संसार अब अच्छा नहीं लगता। संसार में जो लोग हैं, उनसे भी जी हट गया है। दो-एक भक्तों को छोड़कर और कुछ अच्छा नहीं लगता।[३८]

काशीपुर, २१ अप्रैल, १८८६। जैसे इस पेड़ को देख रहा हूँ, वैसे ही क्या किसी ने ईश्वर को देखा है? (श्रीरामकृष्ण की अनुभूतियाँ) उनके मन की भूल हो सकती है।... मैं सत्य चाहता हूँ। उस दिन मैंने श्रीरामकृष्ण के साथ ही घोर तर्क किया।... उन्होंने मुझसे कहा था, "मुझे कोई-कोई ईश्वर कहते हैं।" मैंने कहा, "दूसरे चाहे लाख कहें, परन्तु जब तक मुझे वह बात सत्य नहीं जँचेगी, तब तक मैं कदापि नहीं कहूँगा।" उन्होंने कहा, "अधिकतर लोग जो कुछ कहेंगे, वही तो सत्य है – वही तो धर्म है !" मैंने कहा, 'मैं स्वयं जब तक अच्छी तरह समझ नहीं लूँगा, तब तक मैं दूसरों की बातें नहीं मान सकता।"[३९]

काशीपुर, २३ अप्रैल, १८८६। कितने आश्चर्य की बात है ! इतने साल तक पढ़ने पर भी विद्या नहीं आती ! फिर लोग कैसे कहते हैं कि 'मैंने दो-तीन दिन साधना की; अब क्या ! अब ईश्वर मिलेंगे !' ईश्वर-प्राप्ति क्या इतना ही सहज है? ... मुझे अभी तक शान्ति नहीं मिली।[४०]

बराहनगर, २५ मार्च, १८८७। (काशीपुर में अनुभूत निर्विकल्प समाधि के सन्दर्भ में) उस अवस्था में मुझे ऐसा जान पड़ा मानो मेरा शरीर है ही नहीं; केवल मुँह देख रहा हूँ। श्रीरामकृष्ण ऊपर के कमरे में थे। नीचे मुझे यह अवस्था हुई। उस अवस्था के होते ही मैं रोने लगा – यह मुझे क्या हो गया? बूढ़े गोपाल ने ऊपर जाकर उनसे कहा, "नरेन्द्र रो रहा है।" जब मैं उनसे मिला, तो वे बोले, "अब तेरी समझ में आया ! परन्तु चाभी मेरे पास रहेगी।" मैंने कहा, "यह मुझे क्या हुआ?" वे अन्य भक्तों की ओर उन्मुख होकर बोले, "जब वह अपने को जान लेगा, तो देह नहीं रखेगा। मैंने इसे भुला रखा है।"[४१]

काशीपुर के उद्यान में एक दिन मैंने श्री गुरुदेव से बड़ी व्याकुलता के साथ अपनी प्रार्थना व्यक्त की थी। उस दिन सन्ध्या के समय ध्यान करते-करते अपने शरीर को खोजा, तो नहीं मिला। ऐसा प्रतीत हुआ मानो शरीर बिल्कुल है ही नहीं। चन्द्र, सूर्य, देश, काल, आकाश – सब मानो एकाकार होकर कहीं लय हो गये हैं। देह-बुद्धि आदि का प्राय: अभाव हो गया था और 'मैं' भी बस लय-जैसा ही हो रहा था ! परन्तु मुझमें कुछ 'अहं' था, इसीलिए उस समाधि अवस्था से लौट आया था। इस प्रकार समाधि-काल में 'मैं' और 'ब्रह्म' में भेद नहीं रहता, सब एक हो जाता है; मानो महासमुद्र है – जल ही जल और कुछ नहीं। भाव और भाषा का अन्त हो जाता है। इसी समय **अ-वाङ्-मनस्-गोचरम्** (मनवाणी के अतीत तत्त्व) की अनुभूति होती है। ...

फिर उसी अवस्था को प्राप्त करने की मैंने बारम्बार चेष्टा की, परन्तु पा न सका। श्री गुरुदेव को सूचित करने पर वे कहने लगे, "उस अवस्था में दिन-रात रहने से तुम माँ-जगदम्बा का कार्य पूरा नहीं कर सकोगे। इसलिए उस अवस्था को फिर प्राप्त नहीं कर सकोगे; कार्य समाप्त होने पर वह अवस्था (स्वयं ही) फिर आ जायेगी।"...

श्रीरामकृष्ण कहते थे कि केवल अवतारी पुरुष ही जीवों की कल्याण-कामना लेकर निर्विकल्प समाधि से लौट सकते हैं। साधारण जीव का मन उससे वापस नहीं उतरता। उसका शरीर मात्र इक्कीस दिन तक जीवित रहने के बाद, संसाररूपी वृक्ष से सूखे पत्ते के समान झड़कर गिर पड़ता है।[४२]

इस ज्ञाता-ज्ञेय-रूप सापेक्ष भूमिका से ही दर्शन-शास्त्र, विज्ञान आदि निकले हैं; परन्तु मानव-मन का कोई भी भाव या भाषा, जानने या न जानने के परे की वस्तु को पूर्ण रूप से प्रकट नहीं कर सकती। दर्शन, विज्ञान आदि आंशिक रूप से ही सत्य हैं; अत: वे किसी भी प्रकार परमार्थ तत्त्व के पूर्ण निरूपण में अक्षम हैं। परमार्थ की दृष्टि से देखने पर सभी कुछ मिथ्या ज्ञात होता है – धर्म मिथ्या है, कर्म मिथ्या है, मैं मिथ्या हूँ, तू मिथ्या है, जगत् मिथ्या है। तभी दिखता है कि मैं ही सब कुछ हूँ, मैं ही सर्वगत आत्मा हूँ, मेरा प्रमाण मैं

ही हूँ। मेरे अस्तित्व के प्रमाण के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता कहाँ? जैसा कि शास्त्रों ने कहा है – **नित्यम् अस्मत् प्रसिद्धम्*** – मैं सर्वदा अहंबोध से अभिव्यक्त हूँ। मैंने वास्तव में ऐसी स्थिति का साक्षात् अनुभव किया है।[४३]

काशीपुर में श्रीरामकृष्ण ने मेरे भीतर शक्ति-संचार किया। ... (एक दिन ध्यान करते समय) मैंने काली (स्वामी अभेदानन्द) से कहा, "जरा मेरा हाथ पकड़ तो सही।" काली ने कहा, "तुम्हारी देह छूते ही मुझे न जाने कैसा एक झटका-सा लगा।" (एक दिन श्रीरामकृष्ण ने एक पुरजे पर लिखकर कहा, "नरेन लोगों को शिक्षा देगा।") पर मैंने कहा, "यह सब मुझसे न होगा।" इस पर वे बोले, "तेरे हाड़ करेंगे।"[४४]

मैं जिन विचारों का सन्देश देना चाहता हूँ, वे सब उन्हीं (श्रीरामकृष्ण) के विचारों को प्रतिध्वनित करने की मेरी अपनी चेष्टा है। इसमें मेरा अपना निजी कोई भी मौलिक विचार नहीं है; हाँ, जो कुछ असत्य या भूल है, वह अवश्य मेरा ही है। पर हर ऐसा शब्द, जिसे मैं तुम्हारे सामने कहता हूँ और जो सत्य तथा हितकर है, वह केवल उन्हीं की वाणी को झंकृति देने का मेरा प्रयत्न मात्र है। ...

बस, उन्हीं के चरणों में मुझे ये विचार प्राप्त हुए। मेरे साथ और भी अनेक युवक थे। मैं केवल बालक ही था। तब मेरी आयु सोलह वर्ष की रही होगी; कुछ अन्य लोग तो मुझसे भी छोटे थे और कुछ बड़े भी थे – हम करीब दर्जन भर रहे होंगे। हम सबने बैठकर यह निश्चय किया कि हमें इस आदर्श का प्रसार करना है। हम लोग चल पड़े – न केवल उस आदर्श का प्रसार करने के लिए, बल्कि उसे और भी अधिक व्यावहारिक रूप देने के लिए। तात्पर्य यह कि हमें दिखानी थी – हिन्दुओं की आध्यात्मिकता, बौद्धों की जीव-दया, ईसाइयों की क्रियाशीलता और मुसलमानों का भाईचारा – और यह सब हमें अपने व्यावहारिक जीवन के द्वारा दिखाना था। हमने निश्चय किया, "हम – अभी और यहीं – एक सार्वभौमिक धर्म का निर्माण करेंगे। हम रुकेंगे नहीं।"

हमारे गुरु एक बुजुर्ग व्यक्ति थे, जो कभी अपने हाथ से एक पैसा तक नहीं छूते थे। बस, उन्हें जो थोड़ा-सा भोजन और कुछ वस्त्र दिये जाते थे, वे उतना ही ग्रहण करते थे, इससे अधिक कुछ नहीं। कुछ और स्वीकार करने के लिए कोई उन्हें राजी ही नहीं करा पाता था। इन अद्भुत विचारों से युक्त होने पर भी, अनुशासन में वे बड़े कठोर थे और इसी कारण वे स्वाधीन थे। भारत का संन्यासी – आज राजा का मित्र है, उसी के साथ भोजन कर रहा है, तो अगले दिन वह भिखारी के साथ है और वृक्ष के नीचे सो जाता है।[४५]

उनका मुझ पर प्रगाढ़ स्नेह था, जिसके कारण बहुत-से लोग मुझसे ईर्ष्या करने लगे थे। वे किसी को भी देखते ही उसका चरित्र जान जाते थे और फिर कभी अपनी राय नहीं बदलते थे। उन्हें मानो अतीन्द्रिय बोध हो जाता था, जबकि हम लोग किसी के चरित्र को बुद्धि द्वारा जानने की चेष्टा करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि हमारे निर्णय प्राय: गलत होते हैं। कुछ लोगों को वे अपना अन्तरंग कहते थे, जिन्हें वे अपने स्वरूप के तथा योग के गूढ़ रहस्य सिखाते थे। बहिरंगों या बाहरी लोगों को वे उन दृष्टान्तों से शिक्षा देते थे, जो अब 'वचनामृत' कहे जाते हैं। वे उन (अन्तरंग) युवकों को अपने कार्य के लिए तैयार कर रहे थे और यद्यपि अनेक लोग उनके बारे में शिकायतें करते, तथापि वे उन पर ध्यान नहीं देते थे। किसी बहिरंग के विषय में, उसके कार्यों के आधार पर, किसी अन्तरंग की अपेक्षा अधिक अच्छी धारणा हो सकती है, पर अन्तरंगों के प्रति मैं एक अन्धविश्वासी की भाँति आदर भाव रखता हूँ। कहावत है, "मुझे प्यार करते हो, तो मेरे कुत्ते को भी प्यार करो।" मैं उस ब्राह्मण पुरोहित से अत्यधिक प्रेम करता हूँ; इसलिए जो कुछ उन्हें प्रिय था, जिसके प्रति उनमें सम्मान था, वह मुझे भी प्रिय है! मेरे बारे में उन्हें आशंका थी कि यदि मुझे स्वयं पर छोड़ दिया जाय, तो मैं एक नया सम्प्रदाय ही स्थापित कर दूँगा।

कुछ लोगों से वे कहते, "तुम इस जीवन में धर्मलाभ नहीं कर सकते।" वे हर चीज जान जाते थे और इससे यह बात समझ में आ जाती है कि क्यों वे कुछ लोगों के साथ वैसा व्यवहार करते थे, जो पक्षपात प्रतीत होता था। एक वैज्ञानिक के समान वे समझते थे कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न उपचारों की जरूरत है। अन्तरंगों के सिवा अन्य किसी को उनके कमरे में सोने की अनुमति नहीं थी। यह कहना सत्य नहीं है कि जिन्होंने उनका दर्शन नहीं किया है, उन्हें मुक्ति नहीं मिलेगी और यह भी सत्य नहीं है कि जो तीन बार उनका दर्शन कर चुका है, उसे (निश्चित रूप से) मुक्ति मिल जायेगी।[४६]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

३३. The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ८, पृ. २६३-६४ तथा विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. १२९; **३४.** The Complete Works, खण्ड ९, पृ. ४११; **३५.** वही, खण्ड ९, पृ. ४१०; **३६.** वचनामृत, खण्ड २, पृ. १०८५-८७; **३७.** वचनामृत, खण्ड २, पृ. ११२४; **३८.** वचनामृत, खण्ड २, पृ. ११२५-२६; **३९.** वचनामृत, खण्ड २, पृ. ११६०; **४०.** वचनामृत, खण्ड २, पृ. ११७३; **४१.** वचनामृत, खण्ड २, पृ. १२४३; **४२.** विवेकानन्द साहित्य, प्रथम सं., खण्ड ६, पृ. ९९-१००; **४३.** वही, खण्ड ६, पृ. १६६-६७; **४४.** वचनामृत, खण्ड २, पृ. १२४७; **४५.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १०, पृ. ९; **४६.** वही, खण्ड ७, पृ. २६९-७०;

* विवेक-चूडामणि, ४०९

राष्ट्रोन्नति के सोपान

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

राष्ट्र की उन्नति के लिए आलस्य और अन्धविश्वास – इन दो का सर्वथा त्याग करना होगा तथा हृदय को प्रेम और सहानुभूति से भरना होगा। आलस्य अकर्मण्यता को जन्म देता है और किसी भी सर्जनात्मक प्रेरणा को अवरुद्ध कर देता है। आलस्य को इच्छाशक्ति के द्वारा जीता जा सकता है। इच्छाशक्ति संसार में सबसे अधिक बलवती है। उसके सामने दुनिया की कोई चीज नहीं ठहर सकती। विशुद्ध और दृढ़ इच्छाशक्ति सर्वशक्तिमान है। यह इच्छाशक्ति अपने ऊपर विश्वास करने से उत्पन्न होती है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि अपने आप में विश्वास रखने का आदर्श हमारा सबसे बड़ा सहायक है। सभी क्षेत्रों में यदि अपने आप में विश्वास करना हमें सिखाया जाता और उसका अभ्यास कराया जाता, तो हमारी बुराइयों तथा दुखों का बहुत बड़ा भाग आज तक मिट गया होता। वे आत्मविश्वास को धार्मिक प्रेरणा से भी ऊँचा दर्जा देते हैं, कहते हैं – "पुराने धर्म कहा करते हैं कि वह नास्तिक है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता, नया धर्म कहता है कि वह नास्तिक है जो अपने आप में विश्वास नहीं करता।" यदि मानव-जाति के आज तक के इतिहास में महान् नर-नारियों के जीवन में सबसे बड़ी प्रवर्तक शक्ति कोई है, तो वह आत्मविश्वास ही है। गीता में भी अर्जुन को आत्मविश्वास का पाठ पढ़ाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं –

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।। ६/५

– अर्थात् "मनुष्य अपने द्वारा अपना कल्याण करे, अपने को नीचे न गिरावे, क्योंकि वह स्वयं अपना मित्र भी है और शत्रु भी।" तो यह जो अपने ऊपर विश्वास का, अपने देश के समुज्ज्वल भविष्य पर विश्वास का पाठ है, यह राष्ट्रोन्नति का पहला सोपान है, जो आलस्य और अकर्मण्यता को पैरों-तले रौंदता हुआ चलता है।

राष्ट्रोन्नति के दूसरे सोपान के रूप में हमें अन्धविश्वास और कुसंस्कार का खात्मा करना होगा। अन्धविश्वास मानसिक दुर्बलता का परिचायक है और प्रगति का विरोधी है। अन्धविश्वास के कारण छल-कपट और जादू-फरेब हमारे लिए धर्म का अंग बन जाते हैं और हमारे विवेक को भ्रष्ट कर देते हैं। आज हमें जिसकी आवश्यकता है, वह है लोहे के पुट्ठे और फौलाद के स्नायु। हम ऐसा धर्म चाहते हैं, जो हमें 'मर्द' बना सके। हम ऐसे सिद्धान्त चाहते हैं, जो हमारी मनुष्यता का विकास कर सके। हम ऐसी सर्वांग-सम्पन्न शिक्षा चाहते हैं, जो हमारे मनुष्यत्व को प्रकट कर दे। हम सत्य के पक्षधर बनें, क्योंकि वही अन्धविश्वास का विनाश कर सकता है। और सत्य की कसौटी यह है – जो भी हमें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनावे, उसे जहर की भाँति त्याग देना चाहिए, क्योंकि उसमें जीवनी-शक्ति नहीं है। सत्य वह है, जो बलप्रद है, पवित्रता है, जो हृदय के अन्धकार को दूर कर उसमें स्फूर्ति भर देता है। जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा अन्धविश्वास का निराकरण करेगी।

देश को ऊपर उठाने के लिए तीसरा सोपान है – प्रेम और सहानुभूति। देशभक्ति केवल नारेबाजी तक सीमित न रह जाय, वह हमारी नसों में बहने वाले रक्त में मिल जाय और हमें देश के कल्याण के प्रति सदैव जागरूक रखे। अमेरिका के राष्ट्रपति कैनेडी ने जो कहा था – "Ask not what the nation has done for you, ask what you have done for the nation." – "यह न पूछो कि राष्ट्र ने तुम्हारे लिए क्या किया है, बल्कि यह पूछो कि तुमने राष्ट्र के लिए क्या किया" – यही देशभक्ति की खरी कसौटी है। देश के प्रति व्यक्ति की भक्ति तीन स्तरों पर प्रकट होती है। पहले स्तर पर वह देश की समस्याओं का चिन्तन करता है, वह अपने हृदय से देशवासियों के लिए अनुभव करता है। दूसरे स्तर पर वह देश की दुर्दशा के निवारण तथा उसकी समस्याओं को दूर करने के उपाय खोजता है। तीसरे स्तर पर वह उन उपायों के कार्यान्वयन में जी-जान से लग जाता है। बस, ऐसी ही लगन और निष्ठा, दृढ़ मनोबल और इच्छाशक्ति, आलस्य और कुसंस्कारों को दूर कर देश को ऊपर उठा सकती है। ❑❑❑
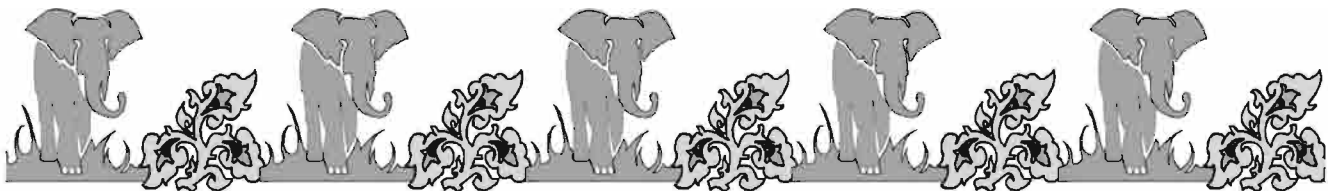
साधना, शरणागति और कृपा (३/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में ३१ जनवरी से ५ फरवरी १९९४ ई. तक प्रदत्त हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा । जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा ।। ...
नृप उत्तानपाद सुत तासू । ध्रुव हरिभगत भयउ सुत जासू ।।
लघु सुत नाम प्रियब्रत ताही । बेद पुरान प्रसंसहिं जाही ।।
देवहूति पुनि तासु कुमारी । जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी ।।
आदि देव प्रभु दीनदयाला। जठर धरेउ जेहिं कपिल कृपाला ।।...
तेहिं मनु राज कीन्ह बहु काला। प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला।
होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन ।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु ।। १/१४२

– "स्वायम्भुव मनु और उनकी पत्नी शतरूपा ...से मनुष्यों की यह अनुपम सृष्टि हुई।... राजा उत्तानपाद उनके पुत्र थे, जिनके पुत्र हरिभक्त ध्रुवजी हुए। मनुजी के छोटे पुत्र का नाम प्रियव्रत था...। देवहूति उनकी कन्या थी, जो कर्दम मुनि की प्रिय पत्नी हुई, जिन्होंने आदि देव, दीनों पर दया करने वाले, समर्थ एवं कृपालु भगवान कपिल को गर्भ में धारण किया।... मनुजी ने बहुत समय तक राज्य किया और सब प्रकार से भगवान की आज्ञा का पालन किया। यह सोचकर उनके मन में बड़ा दुख हुआ कि घर में रहते ही बुढ़ापा आ गया, पर विषयों से वैराग्य नहीं हुआ, जन्म श्रीहरि की भक्ति बिना व्यर्थ ही चला गया।"

परम श्रद्धेय स्वामीजी महाराज और समुपस्थित सन्त-मण्डली के चरणों में मैं सादर नमन करता हूँ। आप सब लोगों के प्रति अभिनन्दन, अभिवादन !

महाराज मनु मानव जाति के आदि पुरुष हैं। उन्होंने धर्म की मर्यादाओं का सृजन किया, जीवन में पालन किया और समाज को उनके अनुकूल संचालित करने की चेष्टा की। उनकी पत्नी आज्ञाकारिणी तथा उनके प्रति अत्यन्त स्नेहमयी थीं। उनके पुत्र बड़े सुयोग्य, भक्त और आज्ञाकारी थे। मनु ने दीर्घ काल तक राज्य का संचालन किया और जब वृद्ध हुए, तो उस वृद्धावस्था का सदुपयोग किया – उपरोक्त पंक्तियों में गोस्वामीजी ने इन्हीं बातों की ओर संकेत किया है।

वृद्धावस्था व्यक्ति को बड़ा आतंकित करता है। उसके आने की कल्पना से ही व्यक्ति भयभीत हो जाता है। व्यक्ति वृद्ध नहीं होना चाहता। इसका दृष्टान्त स्वयं मानस में है। बाद में खलनायक के रूप में जिस रावण के चरित्र को हम रामायण में पढ़ते हैं, वह पूर्व जन्म में राजा प्रतापभानु था। उसका जीवन भी बड़ा धर्मयुक्त तथा मर्यादाओं के अनुकूल था। उसने प्रजा की समस्याओं का समाधान करने और उसे सन्तुष्ट करने की चेष्टा की। परन्तु ऐसे प्रतापभानु के जीवन में कुछ ऐसे भय तथा आशंकाएँ हैं, जिन्हें वह लोगों के समक्ष प्रगट नहीं करता। उसके द्वारा अनेक यज्ञ सम्पादित होते हैं। हमारे यहाँ प्राचीन परम्परा रही है कि यज्ञ के पहले आचार्य यजमान से पूछता है कि तुम किस उद्देश्य से यज्ञ कर रहे हो? तब संकल्पपूर्वक उसकी घोषणा की जाती। आचार्य मंत्रोच्चारण करते हुए बताते हैं कि यजमान किस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यज्ञ कर रहा है। जब भी ऐसे यज्ञ होते थे, तो आचार्यों द्वारा यह प्रश्न किया जाता था कि तुम यज्ञ के द्वारा क्या पाना चाहते हो? तो प्रतापभानु वही उत्तर देता, जो शास्त्रीय दृष्टि से सर्वोच्च उत्तर है।

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्म करने का उपदेश देते हैं और उसे कर्मयोग के रूप में परिणत करने की पद्धति बताते हैं। अर्जुन को उपदेश देते हुए भगवान एक बड़े महत्त्व का सूत्र देते हैं – तुम यदि कर्म करते हो, तो तुम्हें कर्म का परिणाम प्राप्त होगा। उन्होंने संकेत किया – मान लो युद्ध में तुम्हारी मृत्यु हो गई, तो तुम्हें स्वर्ग प्राप्त होगा; और यदि तुम जीवित रहे, तो युद्ध जीतकर संसार पर राज्य करते हुए भौतिक सुखों का उपभोग करोगे। भगवान ने यह पहली कक्षा का पाठ पढ़ाने में संकोच नहीं किया। परन्तु किसी छात्र को पहली कक्षा में ही रहने देना, किसी योग्य शिक्षक या गुरु का कर्तव्य नहीं है। भगवान थोड़े ही समय बाद अर्जुन को उच्चतर स्थिति में ले जाते हैं और सकाम कर्म का उपदेश देते हैं। वे इस ओर भी संकेत करते हैं कि सकाम कर्म के साथ क्या समस्याएँ आती हैं। फिर वे निष्काम कर्मयोग का भी उपदेश देते हैं, परन्तु साथ ही कहते हैं कि तुम अपने कर्मों का मुझमें समर्पण कर दो। भगवान श्रीकृष्ण का समर्पण का वह महानतम दिव्य सूत्र यह है – हे अर्जुन, तुम जीवन में जो भी तप करो, जो भी क्रिया तुम्हारे द्वारा सम्पन्न हो, वह सब मुझे समर्पित कर दो –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुस्व मदर्पणम् ।। ९/२७

गीता के योगों में सर्वश्रेष्ठ है यह समर्पण-योग। फिर सबके अन्त में भगवान अर्जुन को शरणागति का उपदेश देते हैं। भगवान अर्जुन से कहते हैं – समस्त कर्तव्यों को त्याग कर तुम एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करो –

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।। १८/६६

सकाम कर्म से समर्पण और तत्पश्चात् शरणागति – इस प्रकार भगवान ने अर्जुन को मानो साधना की सर्वोच्च स्थिति में पहुँचाने की चेष्टा की। यह समर्पण योग ही सर्वश्रेष्ठ है।

किसी भी ग्रन्थ के किसी एक वाक्य के आधार पर ही आप यह निर्णय न कर लें कि यही वाक्य मेरे लिये भी उपयोगी या कल्याणकारी है। व्यक्ति से प्राय: यही भूल हो जाती है। यह बात केवल प्राचीन काल के सन्तों-महात्माओं की वाणी के सन्दर्भ में ही सत्य नहीं है, अपने जिन महा-मानव स्वामी विवेकानन्दजी महाराज का आज भारतीय तिथि के अनुसार जन्मदिन है, आप जब कभी उनके ग्रन्थों का अध्ययन करेंगे, तो देखेंगे कि उनमें सर्वथा एकरूपता नहीं है। भिन्न-भिन्न प्रसंगों में वे भिन्न-भिन्न प्रकार के वाक्य कहते हैं। पर लोग बहुधा उन्हीं वाक्यों को उद्धृत करते हैं, जो उन्हें प्रिय लगता है, या अपने पक्ष के अनुकूल प्रतीत होता है; पर महामानव एक ही वस्तु को, किसी प्रसंग-विशेष में, किन्हीं व्यक्ति-विशेष के सन्दर्भ में, समाज की किसी आवश्यकता के सन्दर्भ में अनेक रूपों में प्रस्तुत करते हैं। मैं एक प्रसंग पढ़ रहा था, जिसमें उन्होंने कहा है कि यदि दुष्ट ही बनना है, तो महानतम दुष्ट बनो। यदि कोई इसी उद्धरण के आधार पर कहे कि स्वामीजी चाहते थे कि महानतम दुष्ट बनना चाहिए। वाक्य तो उन्हीं का है, पर उसके मूल में जो तात्पर्य निहित है, उसे समझना होगा। वे कदापि किसी को दुष्ट नहीं बनाना चाहते थे। हमारे ग्रन्थों में विद्यमान उनका जो आदर्श है, वह कितना दिव्य है, कितना उत्कृष्ट है, उसका परिचय तो आप प्रत्यक्ष पा रहे हैं। परन्तु जब वे कहते हैं कि जब दुष्ट ही बनना है, तो महानतम दुष्ट बनो, तो उस वाक्य के पीछे उनकी एक विशेष भावना है। उस प्रसंग में मुझे गोस्वामीजी का वह दोहा याद आ जाता है, जिसमें वे प्रभु से प्रार्थना करते हैं – प्रभो, आपके चरणों में मेरी भक्ति हो। पर उसके साथ-साथ उन्होंने यह भी कह दिया कि यदि प्रेम न हो सके, तो एक दूसरा विकल्प भी हो सकता है। – क्या? बोले – बने, तो आपसे बने। नहीं तो आपसे बिगड़ जाय। साधारण बिगड़ना नहीं, वह तो रोज बिगड़ता रहता है। ईश्वर को लोग कभी कृपालु कहकर प्रशंसा करेंगे, तो कभी थोड़ा भला-बुरा भी कह लेंगे। उन्होंने कहा – नहीं, मैं ऐसा नहीं चाहता हूँ। यदि आपसे बिगड़ना ही है, तो पूरी तौर से बिगड़ जाय।

बनै तो रघुबर सो बनै, कै बिगरै भरपूर ।।

इसका अभिप्राय यह बताना है कि जब हम किसी कार्य को करने के लिए दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत होते हैं, तो हम पूरे मन-बुद्धि से उस दिशा में अग्रसर होते हैं। इसका अभिप्राय वस्तुत: कोई झगड़ा उत्पन्न करना नहीं, अपितु भगवान के प्रति प्रीति ही उत्पन्न करना है। स्वामीजी जब कहते हैं कि महानतम दुष्ट बनो, तो वे किसी को दुष्ट बनने के लिए प्रेरित नहीं करते। उनका अभिप्राय यह है कि तुम्हारा जो संकल्प है, उसे साकार करने के लिए पूरी तौर से उसके प्रति समर्पित होकर तुम उसे पूर्ण करने की चेष्टा करो। यदि तुम महान् दुष्ट बनने की चेष्टा करोगे, तो इसका अर्थ यह है कि तुममें श्रेष्ठ बनने की सामर्थ्य भी है। यदि हम पूरा तन-मन लगाकर महादुष्ट बन सकते हैं, तो महान् शिष्य और महामानव क्यों नहीं बन सकते? तो महापुरुषों के वाक्य एक विशेष सन्दर्भ में कहे जाते हैं और उनका केवल एक अंश नहीं लिया जाना चाहिये। गीता में सकाम कर्मयोग है, निष्काम कर्मयोग है और समर्पण योग भी है। भगवान अलग-अलग प्रसंगों में उनका विवेचन करते हैं।

राजा प्रतापभानु की समस्या क्या है? वह जिस कक्षा का पाठ दुहराता है, उस कक्षा का विद्यार्थी नहीं है। समर्पण-योग सर्वश्रेष्ठ योग है। जिसके जीवन में समर्पण योग है, वह सर्वश्रेष्ठ योगी है। परन्तु सर्वश्रेष्ठ योग को केवल शब्दों में दुहराकर सर्वश्रेष्ठ योगी होने का दम्भ करना घातक हो सकता है! समर्पण-योग व्यक्ति के स्वभाव में होना चाहिये, उसके चरित्र में दिखना चाहिए। परन्तु प्रतापभानु के पास तो मात्र कुछ शब्दों के रूप में ही समर्पण-योग है।

यज्ञ में आचार्य जब उससे पूछते हैं कि आप यज्ञ के द्वारा क्या पाना चाहते हैं, तो कहता है – महाराज, यह कर्म तो मैं भगवान को अर्पित करने के लिए कर रहा हूँ। लिखा है – वह मन तथा वाणी से जो भी धर्म-कर्म करता था, वह सब भगवान वासुदेव को अर्पित करता रहता था –

करइ जे धरम करम मन बानी
बासुदेव अर्पित नृप ग्यानी ।। १/१५६/२

वह कहता है – यह यज्ञ तो मैं समर्पण के लिये कर रहा हूँ, तो लगता है – धन्य हैं महाराज, कितने बड़े ज्ञानी हैं, कितने निष्काम हैं, इनके जीवन में तो कोई कामना नहीं है! परन्तु उसके जीवन में समर्पण की सच्ची वृत्ति नहीं है। लोगों के समक्ष, शब्दों के द्वारा कोई कह दे कि मैं समर्पण कर रहा हूँ, तो केवल इतने से ही समर्पण नहीं हो जाता।

मुझे स्मरण आता है – बहुत वर्ष पहले जब मेरी अवस्था कम थी, ब्रह्मलीन स्वामीश्री अखण्डानन्द जी महाराज जबलपुर में विराजमान थे। मैं भी एक छोटे से बालक के रूप में वहाँ बैठा था। एक सज्जन आए और उनको प्रणाम करके बोले – महाराज, मैं तो आपके चरणों में अपने को समर्पण करने के लिये आया हूँ। लोगों का ध्यान उनकी ओर खिंच गया,

क्योंकि उन्होंने अन्य लोगों की तरह अन्य कोई बात न कह कर समर्पण की बात कही थी। परन्तु स्वामीजी ने उनके साथ बड़ा अनोखा व्यवहार किया। अब उन्होंने उनके साथ बोलना बन्द कर दिया। बाकी सब भक्तों से बातें करते रहे। दो-तीन घण्टे सत्संग होता रहा, परन्तु उनकी ओर न देखा और न बोले ! अब उन सज्जन से नहीं रहा गया, उन्होंने कहा – महाराज, आप मुझसे कुछ क्यों नहीं बोल रहे हैं? इस पर स्वामीजी बोले, "तो समर्पण क्या तीन ही घण्टे का था? जब तुम समर्पित ही हो गये हो, तो मैं तुमसे कब बोलूँ, कब न बोलूँ, क्या कहूँ, क्या न कहूँ, कैसा व्यवहार करूँ – यह सब तो अब मेरे ऊपर निर्भर है। ऐसा लगता है कि तुम्हारा समर्पण दो-तीन घण्टे वाला ही था और उसमें भी तुम इस आशा में बेचैन होते रहे कि हम ज्योंही समर्पण करेंगे, त्योंही ये हमें बदले में न जाने कौन-सा तत्वज्ञान दे देंगे, कौन-सी महान् अनुभूति दे देंगे।" तात्पर्य यह कि 'समर्पण' शब्द को दुहरा देने मात्र से समर्पण नहीं हो जाता।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव ।
त्वमेव बन्धुश्चसखा त्वमेव ।।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव ।
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ।। (पाण्डव गीता, २)

भले ही हम यह श्लोक दुहराते रहें, परन्तु इसका भाव क्या सरलता से आ जाता है? राजा प्रतापभानु ज्ञानी कहलाने लगा, निष्काम कहलाने लगा, परन्तु यह सत्य नहीं था।

यहीं पर महाराज मनु और प्रतापभानु का अन्तर प्रगट हो जाता है। मनु दशरथ बनते हैं और प्रतापभानु दशमुख बनता है। कैसी अनोखी बात है ! दोनों धार्मिक थे, तथापि दोनों में बड़ा अन्तर था और इसी कारण प्रतापभानु वन में जाकर कपट मुनि द्वारा छला जाता है। महाराज मनु की चर्चा आपके सामने की जा रही है, वे भी वन में जाते हैं। वन में उनका मिलन मुनियों से होता है; प्रतापभानु का भी वन में एक मुनि से मिलन होता है, परन्तु दोनों में अन्तर था। एक को ऐसे महात्मा मिले, जिन्होंने उन्हें ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग बताया और प्रतापभानु को ऐसा मुनि मिला, जिसने उसे ऐसी दिशा में प्रेरित किया, जिससे वह राक्षस बन गया।

यहाँ एक बड़े महत्त्व का सूत्र है। मनुष्य में ही यह विशेषता है कि वह दशमुख भी बन सकता है और दशरथ भी बन सकता है। मनुष्य की इस क्षमता के दृष्टान्त 'मानस' के ये दोनों पात्र हैं। दोनों में बहुत बड़ा अन्तर यह है कि वह व्यक्ति जब अपनी दुर्बलता को न पहचाने और इसके साथ ही वह अपने आपको उच्च स्थिति में प्रगट करने की चेष्टा करे, तो उसका दम्भ उसे लोकदृष्टि में तो सम्मानित बना देता है; परन्तु उसके द्वारा उसके जीवन में कोई परिवर्तन होना तो दूर रहा, उसके पतन की ही आशंका उत्पन्न कर देता है। यही स्थिति प्रतापभानु की है। यदि प्रतापभानु का कपट मुनि से मिलन हुआ और महाराज मनु महान् सन्तों से मिले, तो इसके पीछे केवल मुनियों के भेद की बात नहीं थी। इसके मूल में उन दोनों के मनोवृत्तियों का भी भेद है।

मान लीजिए कि आप महात्माओं की खोज में हों, लोग ऐसा कहा भी करते हैं। परन्तु कई बार समाचार-पत्रों में आता है कि साधु ने किसी भोले-भाले गृहस्थ को ठग लिया। नोट दूना बनाने का प्रलोभन दिया और उसका सब कुछ लेकर चम्पत हो गया। अब समाचार-पत्र उस गृहस्थ को भोले-भाले लिखें, तो दूसरी बात है, पर सोचिए कि जो व्यक्ति दो रोटियाँ खिलाकर क्षण भर में नोटों को दूना कराना चाहता है, उसकी योजना कितनी विलक्षण है। उसको लगता है कि अन्य प्रकार से भी नोट दूने हो सकते हैं, परन्तु क्षण भर में नोट दूने हो जायँ, यह तो चमत्कार है। ठगा तो वही जाता है, जिसके जीवन में लोभ है। हमारा लोभ, हमारी कामना, हमारा स्वार्थ, हमारी भ्रान्त धारणाएँ ही तो हमें ठगी का शिकार बना देती हैं। वह व्यक्ति नहीं ठगा जाता, जिसके पास ठगे जाने के लिये कुछ नहीं है।

प्रतापभानु स्वयं जिस प्रकार का जीवन जीता रहा, उसको वैसा ही महात्मा भी मिला। ऊपर से तो वह परम निष्काम और समर्पण भाव दिखाता था, परन्तु उसके भीतर कामनाओं का पुँज भरा था। उसको महात्मा भी ठीक वैसे ही मिल गये। वे महामुनि ऐसे थे कि अकेले कुटिया में रहते थे, कोई शिष्य भी नहीं था, शरीर पर भी वस्त्र के नाम पर केवल लंगोटी मात्र थी। प्रतापभानु उस महात्मा के पास पहुँचे।

वह वस्तुतः पहले एक राजा था। प्रतापभानु ने अपनी विजय-यात्रा में उस छोटे-से राज्य के राजा को एक सन्देश भेजा कि तुम मेरी शरण में आ जाओ। परन्तु वह राजा अति अभिमानी था। उसने अस्वीकार कर दिया। उसने युद्ध नहीं किया, परन्तु सोचा – मैं प्रतापभानु से युद्ध करने की स्थिति में नहीं हूँ, मगर मैं अवसर की प्रतीक्षा करूँगा और समय आने पर प्रतापभानु को बताऊँगा कि मैं क्या कर सकता हूँ !

यह सोचकर वह राजा वन में चला जाता है। मुनि का वेश बना लेता है। उसका एक मित्र है कालकेतु राक्षस। प्रतापभानु ने कालकेतु के दस पुत्रों को मार दिया था। कालकेतु और उस राजा की मित्रता होती है। तो यह कपट-मुनि वस्तुतः एक राजा है, जो कपटी हृदयवाला है।

प्रतापभानु को यज्ञ के समय इस तरह से ऋषि-मुनियों तथा आचार्यों को भ्रमित करने की क्या आवश्यकता थी? यह कहने की क्या आवश्यकता थी कि मैं जो भी कर्म कर रहा हूँ, वह ईश्वर को अर्पित करने के लिए कर रहा हूँ? वह मूर्तिमान दम्भ था और दम्भ की भेंट किससे हुई? कपट से।

दम्भ और कपट – दोनों में क्या भेद है? कपट का अर्थ है – हृदय की बात छिपाना; और दम्भ का अर्थ है – जो नहीं है, उसे दिखाना। दोनों में बस यही अन्तर है। कपटी और दम्भी की भेंट हुई। दोनों में जो वार्तालाप हुआ, उसमें भी वही सूत्र है। कपटमुनि ने जब पूछा – आपका नाम क्या है? तो प्रतापभानु को राजनीति का सूत्र याद आ गया कि राजाओं को अपना नाम सरलता से नहीं बताना चाहिये। उसके मन में यह चिन्ता आई। अपने को धोखा देने की प्रवृत्ति उसमें प्रारम्भ से ही थी। अन्यथा या तो वह स्पष्ट बता देता कि मैं राजा प्रतापभानु हूँ, या फिर नहीं बताता। परन्तु उसको लगा कि महामुनि पूछ रहे हैं। यदि न बताऊँ, तो यह असभ्यता होगी; यदि मैं कोई नकली नाम बता दूँ, तो वह झूठ हो जायेगा और यदि सत्य बोल दूँ, तो वह राजनीति के विरुद्ध होगा। तो उपाय क्या है? ऐसा वाक्य बोलूँ कि सत्य भी बचा रहे और राजनीति की भी रक्षा हो जाय। हम लोग ऐसा ही मार्ग ढूढ़ते रहते हैं कि किसी प्रकार यह मान लिया जाय कि हमारा आचरण धर्म-सम्मत है। अत: वह तुरन्त बोला – महाराज, मैं राजा प्रतापभानु का मंत्री हूँ –

नाम प्रतापभानु अवनीसा।
तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा ।। १/१५९/५

मन में सन्तोष कर लिया कि मैं सत्य तो बोल ही रहा हूँ। नाम तो प्रतापभानु ही लिया है, पर यह नहीं कहा कि यह मेरा नाम है, बस जरा-सा संशोधन कर दिया कि मैं राजा प्रतापभानु का मंत्री हूँ। न वह सत्य न झूठ ! अपना मतलब साधने के लिये व्यक्ति किस प्रकार की चेष्टाएँ करता है, इसके चित्र हमारे-आपके तथा मानस के पात्रों में दीख जाते हैं। अपना नाम भी ले रहा है और नहीं भी ले रहा है।

बदले में राजा ने पूछ दिया – महाराज, आपका नाम क्या है? तो वह भी महान् कलाकार है, दम्भ का मूर्तिमान साकार विग्रह ! उसने कहा – मेरा क्या नाम ! उसने भी अपना नाम नहीं लिया। प्रतापभानु ने अपने को मंत्री बताया, तो इसने कहा – भाई, मैं तो भिखारी हूँ, मेरा क्या नाम? –

नाम हमार भिखारि अब निर्धन रहित निकेत।। १/१६०

प्रतापभानु के मन में मुनि के प्रति बड़ा आदर-भाव हो गया – महाराज तो बिल्कुल निरभिमान हैं। त्यागपूर्वक वन में रहते हैं, फिर भी इतने विनम्र हैं। बोले – नहीं महाराज, यह तो आप जैसे महापुरुषों का स्वाभाव है, परन्तु आप कृपा करके, मुझे अपना सेवक समझकर बता दीजिये। मुनि ने कहा – अब तुम इतनी श्रद्धापूर्वक पूछ रहे हो, तो बता ही देता हूँ। मेरा नाम एकतनु है। राजा ने बहुत से ग्रन्थ पढ़े-सुने थे, परन्तु यह नाम उन्हें कहीं नहीं मिला था। आश्चर्यचकित होकर बोले – महाराज, नाम तो आपने बता दिया, जरा नाम का अर्थ भी तो बता दीजिए। मुनि ने कहा – अब तुम कह रहे हो, तो मैं बता ही देता हूँ – जब से सृष्टि की रचना हुई है, तभी से जो मेरा यह शरीर बना; फिर शरीर नहीं बदला, इसीलिये मैं एकतनु हूँ –

आदि सृष्टि उपजी जबहीं तब उतपति भै मोरि।
नाम एकतनु हेतु तेहि देह न धरी बहोरि ।। १/१६२

राजा विस्मित रह गया कि आज तक इतिहास में ऐसा कोई महापुरुष नहीं मिला, जिसकी मृत्यु ही न हुई हो। जब से सृष्टि बनी है, तभी से ये हैं। यह रोग बड़ा व्यापक है। जब महात्माओं के बारे में बात चलती है, तो उनकी आयु की संख्या बहुत बड़ी बतायी जाती है और कभी-कभी तो संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। एक सज्जन ने अपने किन्हीं महात्मा की आयु बताया – इतनी आयु है। मैंने सुन लिया और चुप रहा, परन्तु इससे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। बोले – उनकी आयु के बारे में आपकी सम्मति है न? अब बताइए ! मैं न तो उतनी आयुवाला हूँ, न उनके विषय में ठीक-ठीक जानता हूँ और मेरी ही साक्ष्य लेना चाहते हैं। हम साक्षी दे दें, तो वे लम्बी आयु के हो जाएँगे या कम आयु के हो जाएँगे। व्यक्ति के जीवन में एक मनोवैज्ञानिक आशंका हुआ करती है। हर व्यक्ति चाहता है कि मेरी आयु अधिक हो, इसलिए जब वह लम्बी आयु की बात कहता है, तो उसके मन में स्वयं लम्बी आयु पाने की मनोवैज्ञानिक कामना होती है। इसके पीछे उसकी स्वाभाविक आकांक्षा होती है कि जब ऐसे महात्मा मिल गए हैं, जो दो हजार वर्ष के हैं, तो वे हमें भी सौ-दो-सौ वर्ष तो जिला ही लेंगे।

प्रतापभानु ने कहा – महाराज, मुझसे तो बड़ा अपराध हो गया। – क्या? – अपराध यह हुआ कि मैंने आपसे अपना नाम छिपाया था। मैंने आपको अपना जो नाम बताया था, वह सही नहीं था। कपटमुनि बहुत हँसा, फिर मुस्कुराते हुए बोला – मैं जानता हूँ, तुम्हारा नाम क्या है; तुम प्रतापभानु राजा हो। – महाराज, मैं बड़ा अपराधी हूँ। आप तो सर्वज्ञ भी हैं। आपने तो मेरा नाम भी बता दिया। नाम बता दिया, तो प्रतापभानु क्षमा माँगने लगा। बड़ी व्यंग्य भरी वाणी में कपटमुनि ने कहा – तुम क्षमा क्यों माँग रहे हो? – महाराज, मैंने आपसे कपट किया, तो आपको बहुत बुरा लगा होगा कि सन्त से कपट कर रहा है। बोले – नहीं-नहीं, मैं तो प्रसन्न हूँ कि तुमने कपट किया –

कीन्हेहु कपट लाग भल मोही ।। १/१६३/८

राजा ने अर्थ लिया कि मुनि बड़े क्षमाशील भी हैं, परन्तु कपटमुनि का तात्पर्य था कि हम भी कपट कर रहे हैं, तुम भी कपट कर रहे थे, तो चलो, कोई बात नहीं, हम दोनों समान ही हैं। अब तो मुझे कोई दोषी नहीं कहेगा। इसके बाद कपटमुनि ने पूछ लिया – आप तो इतने बड़े राजा हैं, क्या आपको कुछ चाहिए?

वही आकांक्षा ! कहने को तो इतना बड़ा निष्काम कर्मयोगी, समस्त कर्मों का समर्पण करनेवाला, परन्तु उसने कहा – वैसे महाराज, सच तो यह है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष – चारों फल मेरी मुट्ठी में हैं –

चारि पदारथ करतल मोरें।। १/१६४/७

इन शब्दों में कैसा दम्भ है ! इतना बड़ा दावा ! और इतने बड़े दावे के बाद फिर उसकी गठरी खुलती है। – तो कुछ चाहते हो या नहीं? – वैसे तो मेरे पास चारों फल हैं, लेकिन जब आप जैसे महात्मा प्रसन्न हैं और मैं कुछ न माँगूँ, तो यह मेरे लिए उचित नहीं होगा। जब आप स्वयं ही कह रहे हैं कि कुछ माँगो, तो मुझे माँगना ही पड़ेगा –

प्रभुहि तथापि प्रसन्न बिलोकी ।
मागि अगम बर होउँ असोकी ।। १/१६४/८

अब वह चिन्ता प्रगट हो गई। वह जो आयु की लम्बाई से प्रभावित हुआ था, उसके पीछे उसके अपने जीवन का एक छिपा हुआ भय था कि आज तो मैं जवान हूँ, पर कुछ समय के बाद मैं बूढ़ा भी तो होऊँगा। इसके बाद उसे लगता है कि बूढ़े होने के बाद एक-न-एक दिन मृत्यु भी तो होगी? एक अन्य आशंका भी उसके मन में है कि आज तो मैं युवा हूँ, मैंने सारे विश्व को जीत लिया है, पर जब मैं वृद्ध हो जाऊँगा, तो क्या कोई मुझे परास्त नहीं कर देगा?

ये आशंकाएँ उसके मन में हैं। लेकिन वह मुनि से यह तो नहीं कह सकता कि ऐसा संकल्प कीजिये कि मेरी कभी मृत्यु न हो। क्योंकि वह शास्त्र की यह बात जानता है कि यह मृत्युलोक है। इसलिए जब उसने एकान्त पाया, तो अपने हृदय की कामना व्यक्त कर दी – महाराज, एक ही कृपा करो। – क्या? – मेरा शरीर वृद्धावस्था, मृत्यु और दु:ख से रहित हो जाय, मुझे युद्ध में कोई न जीते और पृथ्वी पर मेरा सौ कल्प तक एकछत्र निष्कण्टक राज्य हो –

जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ ।
एकछत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ ।। १/१६४

पुराण कहते हैं कि एक कल्प में सृष्टि का प्रलय हो जाता है, परन्तु प्रतापभानु कहता है कि प्रलय भले ही होते रहें, परन्तु सौ कल्प तक मेरा राज्य बना रहे। उसके जीवन में इस तरह की कामनाएँ हैं, स्वयं को धोखा देने की प्रवृत्ति है। उसमें निष्कामता तथा समर्पण के झूठे प्रदर्शन की जो प्रवृत्ति है, वही उसे पतन की दिशा में ले जाती है और अन्त में वह हमारे सामने एक राक्षस के रूप में आता है।

यहाँ सूत्र यह है कि शरीर-धारण के साथ-साथ शैशव, कौमार्य, यौवन, प्रौढ़ता, बुढ़ापा, मृत्यु आदि अवस्थाएँ भी आती रहती हैं। शरीर की अवस्थाओं के सन्दर्भ में, व्यक्ति के जीवन में वृद्धावस्था ही उसे सबसे अधिक आतंकित करनेवाली अवस्था है। परन्तु विचार करें, तो क्या वृद्धावस्था सचमुच ही केवल आतंकित करनेवाली अवस्था है?

साहित्य में एक बड़ी रोचक घटना मिलती है। केशवदासजी एक प्रसिद्ध और बड़े भारी विद्वान् कवि हुए हैं। वे गोस्वामीजी के समकालीन थे। गोस्वामीजी से मिलने गये, तो शिष्यों ने कहा – महाराज पूजा में बैठे हुए हैं; आप थोड़ी देर बैठ जायँ, एक घण्टे बाद मिलेंगे। केशवदास की अहंता को ठेस लगी। बोले – जानते हो मैं कौन हूँ? मैं ओरछा नरेश का राजकवि केशवदास, समस्त शास्त्रों का पण्डित, महाकवि – मैं प्रतीक्षा करूँ? जाकर तुलसीदासजी से कहो कि महाकवि केशवदास आए हुए हैं। शिष्यों ने कहा – महाराज, उन्होंने मना किया है कि इस समय उन्हें किसी के भी आने की सूचना न दी जाय। केशवदासजी को क्रोध आ गया। वहाँ से लौटकर आए, तो उन्होंने एक रामायण लिखी। उस ग्रन्थ का नाम है – राम-चन्द्रिका। अत्यन्त पाण्डित्य-पूर्ण रचना है। भगवान राम के चरित्र का बड़ा ही विद्वत्तापूर्ण वर्णन है। विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में, हिन्दी साहित्य की कक्षाओं में विद्यार्थी इस 'राम-चन्द्रिका' को पढ़ते होंगे, या विद्वान् अध्ययन कर लेते होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसमें साहित्य के महान् गुण हैं। परन्तु उस रचना के पीछे उनका उद्देश्य था – गोस्वामीजी को यह दिखाना कि तुमने 'राम-चरित-मानस' लिखकर कोई बड़ा चमत्कार नहीं कर दिया है। तुमने कई वर्षों में रामायण लिखी, परन्तु मैंने तो एक ही दिन में रामायण को लिखकर पूरा कर दिया।

आप शायद जानते होंगे कि गोस्वामीजी ने रामायण की रचना कब की ! उन्होंने इकहत्तर वर्ष की आयु में यह ग्रन्थ लिखा। माना तो यह जाता है कि व्यक्ति कोई भी बड़ा कार्य अपनी युवावस्था में ही कर सकता है, परन्तु यह महान् ग्रन्थ गोस्वामीजी द्वारा वृद्धावस्था में लिखा गया। यह दो या तीन वर्षों में पूरा हुआ, इसको लेकर लोगों में मतभेद भी है, क्योंकि गोस्वामीजी ने इसका उल्लेख नहीं किया है। दूसरी ओर केशवदास जी ने केवल एक दिन में, चौबीस घण्टों में ही रामायण की रचना करके दिखाना चाहा कि वे कितने बड़े पण्डित हैं। उनके उस ग्रन्थ-रूपी मूर्ति के सौन्दर्य में कोई कमी नहीं, परन्तु हमारे यहाँ मूर्ति में पूजा आरम्भ करने के पहले प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है। मूर्ति में अगर प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हुई, तब तो वह एक पत्थर मात्र है। तो 'राम-चन्द्रिका' -रूपी मूर्ति में प्राण है या नहीं? उसमें भक्तों को सम्मोहित करनेवाला, भक्तों को प्रेरित करनेवाला – भक्ति और प्रेम रूपी प्राण तो है ही नहीं। अन्तर यहीं पर है, उनके रामायण की रचना का उद्देश्य था – मात्र अपने अहंकार का प्रदर्शन !

तुलसीदास जी जब बूढ़े होते हैं और केशवदास भी, तब दोनों के स्वभाव का अन्तर प्रगट हो जाता है।

केशवदास अधिक बूढ़े तो नहीं हुए थे, पर उनके कुछ बाल सफेद होने लगे थे। एक बार कविजी घर से निकले, तो सामने कुछ युवतियाँ आ गईं और उन्होंने कहा – बाबा, प्रणाम। उन्होंने आशीर्वाद तो दे दिया, पर लौटकर आये, तो बड़े क्षुब्ध और दुखी हो रहे थे; वे अपने बालों को धिक्कारते हुए कहने लगे – मेरे बाल, तुम्हें धिक्कार है, तुमसे बढ़कर मेरा शत्रु कोई नहीं है ! बालों ने उनसे भला क्या शत्रुता की थी? उनका दुख उनके काव्य में भी प्रगट हुआ। उन्होंने लिखा – सुन्दरी स्त्रियाँ मुझे 'बाबा' कहने लगीं –

केसव केसनि असि करी जस अरिहूँ न कराहि।
चन्द्रबदन मृगलोचनी 'बाबा' कहि-कहि जाहिं।।

कितना आसक्त रहा होगा वह कवि ! उसको तो 'बाबा' सम्बोधन भी असह्य हो उठा है – क्या हम अभी वृद्ध हो गये हैं? यह उस कवि की मनोवृत्ति है, जो इतना बड़ा पण्डित था, इतना महान् विद्वान् था।

गोस्वामीजी भी वृद्ध हुए, परन्तु उनकी मन:स्थिति क्या है? उन्होंने बड़ी लम्बी आयु पाई थी, अन्तत: वृद्धावस्था तो आ ही गई, शरीर शिथिल होने लगा। अब शिष्यों को चिन्ता होने लगी। बोले – महाराज, कोई औषधि लीजिए, आप जितने अधिक दिन जीवित रहेंगे, उतना ही हम लोगों का सौभाग्य होगा। गोस्वामीजी टालते रहे। परन्तु अन्त में एक दिन उन्होंने कह दिया, "ठीक है, तुम लोग चाहते ही हो, तो अवश्य किसी वैद्य को बुला लाओ। परन्तु देखो, मेरा जो मुख्य रोग है, उसी के बारे में पूछना, अन्य किसी रोग के बारे में नहीं। वैद्यजी से यह मत कहना कि गुरुजी को कम सुनाई देने लगा है, गुरुजी को कम स्मरण रहने लगा है, गुरुजी को कम दिखाई देने लगा है।" – महाराज, तो फिर वैद्य देखेंगे क्या? गोस्वामीजी का वह प्रसिद्ध दोहा है, जिसमें वे बताते हैं – वैद्यजी आकर देखें कि मेरा भगवान से प्रेम तो नहीं घट रहा है? इस प्रेम को बढ़ाने की कोई दवा हो, तो दिला दो –

श्रवन घटहुं पुनि दृग घटहुं, घटउ सकल बल देह।
इते घटें घटिहै कहा, जौं न घटै हरि नेह।। दोहा. ५६३

यदि भगवत्-प्रेम बढ़ रहा है, तो यह बड़ी प्रसन्नता की बात है, बाकी सब कुछ घट जाने दो। परन्तु यदि यह प्रेम घट रहा हो, तो वैद्यजी ऐसी कोई दवा दे दें, जिससे मेरे हृदय में भगवान के प्रति प्रेम बढ़े।

इससे दोनों की मनोभावना का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। वैसे दोनों रामायण के रचयिता हैं, दोनों श्रीराम का चरित्र लिखते हैं, पर दोनों की मनोवृत्तियाँ बड़े भिन्न प्रकार की हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

हर नर इन्सान नहीं होता

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

जब तक दुनिया के सुख-दुख का
कुछ अनुभव-ज्ञान नहीं होता।
केवल मानव का तन पाकर,
कोई इन्सान नहीं होता।।

जिसको जनहित का भान नहीं,
जो कर सकता कुछ दान नहीं।
दीनों-दुखियों की आहों पर,
जो देता कुछ भी ध्यान नहीं।

कहलाता हो वह धनिक किन्तु
उसका सम्मान नहीं होता।
केवल मानव का तन पाकर,
कोई इन्सान नहीं होता।।

जिसमें कुछ सत्य विचार नहीं,
जिसका उर है समुदार नहीं।
जो नहीं प्रेम-पीयूष भरा,
जो विनयमूर्ति साकार नहीं।

मिल जाय प्रशंसा भले, किन्तु
सच्चा विद्वान् नहीं होता।
केवल मानव का तन पाकर,
कोई इन्सान नहीं होता।।

जो श्रद्धा-सुमनों से मण्डित,
चढ़ते जिस पर विश्वास-हार।
कहने को तो वह पत्थर है,
पर हरता जन के दुख-विकार।

हर गली-गली में पड़ा हुआ
पत्थर भगवान नहीं होता।
केवल मानव का तन पाकर,
कोई इन्सान नहीं होता।।

❑❑❑

आत्माराम के संस्मरण (३५)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

जाको राखै साइयाँ

ठण्ड का मौसम था। संन्यासी उन दिनों डीसा के संन्यास-आश्रम में ही ठहरा था। चमकीली चाँदनी रात थी। सो जाने के बाद एक बार नींद टूटी। घड़ी खराब हो जाने के कारण बन्द थी। संन्यासी को लगा – भोर हो गया है। आश्रम में शौचालय नहीं था। दिशा-जंगल अर्थात् शौच के लिये बाहर – पास के एक नाले में जाना पड़ता था। बड़े भोर में जाने का अभ्यास था और उस समय न जाने पर बाद में असुविधा होती थी।

संन्यासी जल्दी से उठा, कमण्डलु लेकर निकला और नाले के पास गया। वहाँ दस-बारह कुत्ते दो दल बनाकर लड़ाई करने में व्यस्त थे। वे आपस में एक-दूसरे को काट रहे थे। संन्यासी उनके बगल से गुजरने के लिये ज्योंही उनके पास पहुँचा – हे भगवान ! उन सबने आपसी झगड़ा छोड़कर संन्यासी को ही घेर लिया और भूँकते हुए काटने का प्रयास करने लगे। यदि एक का भी दाँत लग जाता, तो बाकी सब फाड़कर खा जाते। (वैसे हाथ में एक छड़ी थी, परन्तु इस परिस्थिति में उसका उपयोग करने का फल और भी भयंकर होता, इसीलिये उसे बगल में दबा रखा था।) अब क्या किया जाय? आसपास कोई आदमी नहीं था, क्योंकि लोग रास्ते के पास दुकान बनाकर रहते थे। घटनास्थल से काफी दूर और घोर निद्रा में ग्रस्त होने के कारण उन लोगों से सहायता पाने की कोई आशा नहीं थी। सामने भयंकर यातनादायक मृत्यु देखकर संन्यासी असहाय अवस्था में जगदम्बा का स्मरण करते हुए उनके आक्रमण की प्रतीक्षा में खड़ा हो गया।

कुत्तों की उस टोली में से लाल रंग की एक काफी बड़ी कुतिया दौड़कर संन्यासी के पास आयी और पूँछ हिलाते-हिलाते, परिचय व प्रीति का प्रदर्शन करते हुए सहसा सामने के दोनों पाँव उठाकर उसके सीने पर रखकर उसका मुख चाटने की चेष्टा करने लगी। उसके ऐसा करते ही बाकी सब कुत्ते पीछे खिसक गये और वहीं से टकटकी लगाकर देखने लगे। उनका गुर्राना आदि बिल्कुल ही बन्द हो गया।

इसके बाद संन्यासी ने कुतिया को "छोड़ दे, छोड़ दे" कहकर ठेला, तो उसने छोड़ दिया और पूँछ हिलाने लगी। परन्तु संन्यासी ने इसके पहले कभी भी उस कुतिया को नहीं देखा था। अपरिचित होने पर भी, उसके सहसा ऐसे आचरण ने ही संन्यासी के प्राण बचाये। किसकी प्रेरणा से उसने ऐसा किया? – निश्चय ही जगदम्बा की ही प्रेरणा से !

जब आश्रम लौटा, तो पड़ोस की एक पुलिस की स्त्री जाग रही थी। उसने पूछा, "इतनी रात को कहाँ गये थे?"

– "कितने बजे हैं?" – "करीब बारह बजे होंगे।"

संन्यासी बिना कुछ कहे मौन जगदम्बा का स्मरण करता हुआ सो गया। उन्हीं की दया से इस महासंकट से रक्षा हुई।

कर्माबाई का दृष्टान्त

मनुष्य का मन लेकर ही सब कुछ होता है। मन में ही बन्धन है और मन में ही मुक्ति – यह बात सत्य है। वेदान्त और विशेषकर योग-वाशिष्ठ का यही कहना है। भक्त-महापुरुष भी यही कहते हैं। मन शुद्ध तो सब शुद्ध – मन चंगा, तो कठौती में गंगा। बाहरी शुद्धता तो चाहिये ही, परन्तु उससे भी अधिक मन की शुद्धता आवश्यक है।

भक्तगण कर्माबाई का दृष्टान्त दिया करते हैं। उसका ऐसी जाति में जन्म हुआ था, जिसमें शौचाचार आदि के विषय में उसे कोई ज्ञान नहीं था। स्नान आदि वे लोग शायद ही कभी करते और वस्त्र आदि भी कभी-कभार धो लेते। हाथ-पाँव धो लेना ही एक बड़ी बात थी।

ऐसे कुल में कर्माबाई का जन्म हुआ था। उसमें खूब भक्ति थी। सुबह उठते ही वह अपने 'बाल-गोपाल' के लिये खिचड़ी पकाती और उन्हें भोग लगाती। खिचड़ी पकाते समय वह बैठी-बैठी दातुन भी करती रहती और बीच-बीच में दातुन के पिछले हिस्से से खिचड़ी को चला देती। खिचड़ी खूब स्वादिष्ट होती। उसे बाल-गोपाल को खिलाने के बाद वह शौच आदि से निपटने खेत-मैदान की ओर चली जाती। मन में खूब आनन्द रहता। निश्चिन्त होकर वह खेत-खलिहान का कार्य करती रहती। घर में गाय-भैंसें पाली हुई थीं। वह उनकी सेवा करती, दूध दूहती, मक्खन निकालती और सबके भोजन आदि की व्यवस्था करती। उस समय वह एक बार फिर गोपाल को खिलाती। यही उसकी दिनचर्या थी।

संध्या के समय भी उसे बहुत-सा कार्य करना पड़ता – घर में पले हुए पशुओं को यथास्थान बाँधना, उन्हें खाने को देना, दूध दूहना, दही जमाना, फिर भोजन पकाना (उत्तर

प्रदेश, पंजाब तथा राजस्थान के जाट तथा किसान लोग रात का भोजन शाम के समय ही कर लेते हैं)। शाम को वह एक बार फिर गोपाल को दूध का भोग लगाती।

पर उसका नित्य का अभ्यास था – सुबह-सुबह खिचड़ी बनाकर गोपाल को खिलाने के बाद बाकी दिनचर्या शुरू करना।

एक दिन बड़े सबेरे एक ब्राह्मण कर्माबाई के घर आ पहुँचे। उन्होंने देखा कि वह कण्डी की आग में खिचड़ी पका रही है और बीच-बीच में दातुन के पिछले भाग से उसे चला रही है। पूछने पर ब्राह्मण को पता चला कि वह खिचड़ी बाल-गोपाल के लिये पकायी जा रही है। वे आश्चर्यचकित होकर बोले, "यह क्या कर रही हो? भगवान के लिये क्या ऐसे ही पकाया जाता है? स्नान आदि करके पवित्र होकर, तब पकाना चाहिये। सब कुछ खूब शुद्धाचार के साथ करना चाहिये। अरे, उस जूठे दातुन से क्या उसे चलाना चाहिये ! हो सकता है कि उसमें पीछे की ओर तेरी थूक भी लग रही हो। छी, छी, लगता है कि तुम लोगों को शुचि-अशुचि की कोई धारणा नहीं है।"

सब सुनकर कर्माबाई ने कहा, "सचमुच ही महाराज, हम लोग तो आप लोगों के समान इतना सब नहीं समझते। जब आप कह रहे हैं, तो अब से स्नान आदि के बाद ही गोपाल के लिये पकाऊँगी, परन्तु इससे बड़ी देरी हो जायेगी, क्योंकि पानी काफी दूरी पर है और बहुत-से कार्य पूरा करने के बाद ही मैं कुएँ पर जा सकूँगी। तब तक तो मेरे गोपाल को बड़ी भूख लग जायेगी। उसे कष्ट होगा।"

ब्राह्मण देवता बोले, "भले ही देरी हो जाय, परन्तु भगवान की पूजा तो स्नान आदि के बाद ही शुद्ध आचार के साथ करना चाहिये। भक्ति करने से ही क्या हो जायेगा? उसके नियम आदि हैं, पालन नहीं करने से दोष लगता है।"

कर्माबाई ने सरल चित्त से सब मान लिया और अगले दिन से स्नान करके, शुद्ध वस्त्र पहनने के बाद ही गोपाल के लिये खिचड़ी पकाने लगी।

दो-तीन दिन बाद गोपाल ने स्वप्न में आकर कहा, "माँ, सुबह मुझे बड़ी तेज भूख लगती है। तुम मुझे इतनी देरी से क्यों खाने को देती हो? जैसे पहले देती थी, वैसे ही देना।"

कर्माबाई बोली, "बेटा, ब्राह्मण ठाकुर, स्नान करके शुद्ध होकर ही तुम्हारे लिये खाना पकाने के लिये कह गये हैं। इसीलिये देरी हो जाती है। बोलो, मैं क्या करूँ?"

गोपाल ने कहा, "इतने दिन तुम जैसे पकाती थी, वैसे ही पकाना। तुम सदा शुद्ध हो। तुम्हें इससे कोई दोष नहीं लगेगा। जिन लोगों का मन अशुद्ध है, उन्हीं लोगों के लिये यह सारा विधि-विधान है।"

इसके बाद से कर्माबाई पहले के समान ही खिचड़ी पकाकर अपने गोपाल को खिलाने लगी।

(पुरीधाम में जगन्नाथजी को सुबह कर्माबाई की खिचड़ी का भोग दिया जाता है।)

पूजा की बातें

केवल बंगाल ही नहीं, वरन् प्राय: सारे भारत में जो पूजा-पद्धति चलती है, वह तंत्रमत के अनुसार है। पंच, दस, षोडश आदि उपचारों के द्वारा पूजा और पंचादि प्रदीप से दीर्घ काल तक आरती, उसमें कितने ही प्रकार की कला का प्रदर्शन – यह बंगाल का अपना वैशिष्ट्य है। अन्यत्र अधिकांश स्थानों पर पाँच उपचारों से पूजा होती है। आरती के समय सामूहिक स्तुति-पाठ भी करते हैं, जैसा कि बेलूड़ मठ में – "खण्डन भव-बन्धन" पाठ की समाप्ति के साथ ही आरती भी समाप्त हो जाती है। अन्यत्र उत्तर भारत के मन्दिरों में भी कमो-बेश यही प्रथा प्रचलित दीख पड़ती है। अधिकांश विष्णु-मन्दिरों में हिन्दी स्तुति – "जय जगदीश हरे" – गायी जाती है। इसे सभी बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष जानते हैं और एक ही स्वर में गा सकते हैं। इसे पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, गुजरात, दिल्ली, राजस्थान आदि सभी जगह गाया जाता है। इसमें एक विशेष एकता का भाव दीख पड़ता है।

इसी प्रकार देवी का भी – "जय जगदम्बे" – से आरम्भ करके एक हिन्दी स्तुति है। शिव का भी – "जय शिव ओंकारा" है। परन्तु बंगाल में कहीं भी कोई सर्व-जन-विदित स्तुति नहीं है। वहाँ के प्रत्येक मन्दिर में भिन्न-भिन्न सुर-ताल चलता है – भाव की एकता नहीं दिखायी देती। लगता है कि यह वहाँ की जातीय अनेकता का चिह्न है।

पंजाब में आरती सबसे संक्षिप्त होती है। पूजा के उपकरण भी गिने-चुने होते हैं। एक कपूर या एक दीप लेकर तीन बार घुमाने से ही आरती पूरी हो जाती है। आरती के समय सबके साथ पुजारी भी स्तुति बोलता जाता है। उत्तर-प्रदेश, गुजरात, राजस्थान में भी वही प्रथा है; भेद इतना ही है कि इन स्थानों में कपूर या दीपक की आरती ५-७ या १० बार घुमायी जाती है, पर बंगाल-जैसी कलात्मक नहीं होती।

दक्षिण भारत में या जिन-जिन मन्दिरों में दक्षिणी पुजारी पूजा आदि करते हैं, वे लोग सर्वत्र ही प्रतिदिन बृहत् १०-२५-५० या १०० दीपों की आरती करते हैं। उस भारी-भरकम पीतल की दीपमाला को उठाकर घुमाने के लिये शरीर में काफी बल चाहिये। इसीलिये थोड़ा-सा घुमाकर ही रख देते हैं। 'ॐ' – बंगाल के बाहर अधिकांश स्थानों में ओंकार का यही रूप प्रचलित है। प्रदीप को भी देवता के सम्मुख उसी की आकृति में घुमाते हैं। इसीलिये देखकर लगता है कि उसे गोल-गोल फिरा रहे हैं।

पूजा के उपकरण (सामग्रियाँ) जितने बंगाल में दिखाई

(शेष अगले पृष्ठ पर)

प्रयाग में भगवान श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ

स्वामी विदेहात्मानन्द

श्रीरामकृष्ण की पहली प्रयाग-यात्रा

श्रीरामकृष्ण ने दो बार प्रयाग की यात्रा की थी। एक बार १८६३ ई. और दूसरी बार १८६८ ई. में।

मथुरानाथ विश्वास दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर की संस्थापक रानी रासमणि के दामाद और रानी की अन्य सम्पत्तियों के साथ ही मन्दिर के भी व्यवस्थापक थे। उनकी श्रीरामकृष्ण के प्रति इतनी प्रगाढ़ भक्ति थी कि वे उन्हें अपने इष्टदेवता के समान मानते थे। १८६३ ई. में मथुरबाबू ने दक्षिणेश्वर में 'अन्नमेरु' व्रत का अनुष्ठान किया। उसी समय श्रीरामकृष्ण की माता चन्द्रामणि देवी गंगातट पर वृद्धावस्था बिताने का संकल्प लेकर कामारपुकुर से दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में आयीं। तब से अपने शरीरान्त तक अगले बारह वर्ष वे फिर कभी अपने गाँव कामारपुकुर नहीं गयीं।

वृद्धा महिलाओं को तीर्थयात्रा तथा तीर्थवास करने की बड़ी आकांक्षा रहती है। सम्भवत: अपनी माता की इसी आकांक्षा की पूर्ति के लिये श्रीरामकृष्ण ने १८६३ ई. में उनके साथ काशी तथा प्रयाग की यात्रा की थी।

'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' आदि प्रमुख ग्रन्थों में यद्यपि उनकी इस पहली यात्रा का वर्णन नहीं मिलता, तथापि कुछ प्रामाणिक विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है। 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के अमर लेखक श्री महेन्द्रनाथ गुप्त 'म' १९०३ ई. के सितम्बर में प्रकाशित श्रीरामकृष्ण की अपनी जीवनी में लिखते हैं – "श्रीरामकृष्ण ने दो बार तीर्थयात्रा की थी। प्रथम यात्रा के समय उनकी माता, राम चैटर्जी और मथुरबाबू के पुत्र उनके साथ गये थे। यह घटना ... वाराणसी के लिये रेलमार्ग शुरू होने[१] के तत्काल बाद हुई थी। उन दिनों वे अधिकांश समय समाधि अथवा भावावेश में डूबे रहते थे। इस बार वे काशी तथा प्रयाग गये थे और वहीं से कोलकाता लौट आये। वर्ष था १८६३ ई.।"[२]

श्रीरामकृष्ण के एक अन्य शिष्य अक्षयकुमार सेन लिखते हैं – "एर पूर्बे प्रयाग पर्यन्त एक बार। गियाछिला प्रभु-संगे मथुर-कुमार – पहले भी एक बार प्रभु ने प्रयाग तक की यात्रा की थी, उस समय मथुर का पुत्र उनके साथ गया था।"[३] इस घटना का उल्लेख शशिभूषण घोष तथा दुर्गाप्रसाद मित्र द्वारा लिखित जीवनियों में भी है।

श्रीरामकृष्ण की अंग्रेजी जीवनी के अनुसार वे पहली बार

१. यद्यपि वाराणसी रेलवे स्टेशन १८८३ में बना, परन्तु १८६२ ई. के अन्त में मुगलसराय तक गाड़ी चलनी आरम्भ हो गयी थी।

२. Journeys with Ramkrishna, Swami Prabhananda, Sri Ramakrishna Math, Chennai, Ed. 2001, p. 4-5

३. श्रीश्रीरामकृष्ण-पुंथी (बँगला ग्रन्थ), तृतीय सं., उद्बोधन कार्यालय, कोलकाता, पृ. १४५

पिछले पृष्ठ का शेषांश

देते हैं, उतनी अन्यत्र कहीं भी नहीं है, केवल श्री नाथद्वारा (उदयपुर) में रणछोड़ राय का मन्दिर इसका अपवाद है। इसे अट्ठारह भोग कहते हैं। सम्भवत: वृन्दावन के 'अष्टसखी' मन्दिर में भी साल में एक बार वैसा होता है। संन्यासी ने सुना है कि नाटोर की रानी भवानी वहाँ वर्ष में एक दिन देवी की पूजा में (अन्य उपकरणों के साथ) १०८ प्रकार के अन्न-वस्त्र आदि का भोग लगाकर पूजोत्सव किया करती थीं।

बंगाल में विशेष काली-पूजा में आमिष तथा निरामिष दोनों तरह के अनेक प्रकार के भोग चढ़ाने की प्रथा है। अन्यत्र शाकाहारी भोग के साथ २-४ तरह की मिठाइयाँ भी रहती हैं। पंजाब में हलुआ, तसमई (गाढ़ी खीर), कभी काफी मात्रा में बेसन के लड्डू आदि का भोग देकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। फल-फूल आदि भी कम देते हैं; कभी-कभी तो पूरा फल या बिना तोड़े ही सूखे नारियल का भोग देते हैं। देवता को वैसे ही स्वीकार करना पड़ता है। बंगाल में यही उस प्रकार दिया जाय, तो देवता रुष्ट होते हैं, परन्तु उन लोगों पर सन्तुष्ट ही होते हैं। शुचि-अशुचि का भाव कम है, यह सब उतना नहीं समझते। हृदय की देवभक्ति के सिवा और कुछ नहीं जानते। देवता के लिये उपयुक्त जो दो-चार चीजें ज्ञात हैं, उन्हीं को भक्तिपूर्वक देवता के सामने नैवेद्य के रूप में रख देते हैं। इसमें सामग्री की नहीं, बल्कि भक्ति-भाव की प्रमुखता है। भगवान इसके अलावा और क्या चाहते हैं? राजसिक तथा तामसिक पूजा में खूब आडम्बर रहता है। सात्त्विक भाव की पूजा में फल-जल तथा धूप दिया जाता है। बाहरी आडम्बर नहीं होता, परन्तु भक्ति असीम रहती है। भगवान वही चाहते हैं, उन्हें किसी वस्तु का अभाव नहीं है। गीता में लिखा है – पत्र-पुष्प-फल-जल – वे इसी से सन्तुष्ट हो जाते है। परन्तु इससे मन सन्तुष्ट नहीं होता। जो स्वयं को पसन्द है, वही उन्हें भी बहुत मात्रा में देना चाहता है। प्राण जिस वस्तु को अधिक चाहता है, वही उन्हें खूब देना चाहता है। सभी लोग उन्हीं की दी हुई चीज उनको समर्पित करके उनकी पूजा करते हैं। मन प्रचुर चाहता है। सभी प्रचुर देते हैं। प्राचुर्य में जो आनन्द है, वह अल्प में नहीं है – वेद का यह उपदेश कभी मत भूलना! ❑❑❑

१८६३ ई. में तीर्थयात्रा के लिये निकले थे। यह यात्रा मथुरबाबू के पुत्रों की व्यवस्था में हुई। उनकी टोली में उनकी माता चन्द्रामणि देवी भी थीं। वे लोग केवल प्रयाग तक ही गये थे।[४] उन दिनों श्रीरामकृष्ण प्राय: सर्वदा भावावेश तथा समाधि में डूबे रहते थे। दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर के एक कर्मचारी राम चैटर्जी उनकी देखभाल करते थे। इस बार काशी तथा प्रयाग में हुई किसी उल्लेखनीय घटना का विवरण नहीं मिलता।

प्रयाग में दूसरी बार

उनकी दूसरी तीर्थयात्रा काफी लम्बी थी। यह यात्रा उनकी इस्लाम मत की साधना और श्रीमाँ सारदा देवी के दक्षिणेश्वर आने की अवधि के दौरान हुई थी।

इस्लाम साधना के बाद श्रीरामकृष्ण अपने गाँव कामारपुकुर जाकर वहाँ से हाल ही में लौटे थे। मथुरबाबू तथा उनकी पत्नी के मन में तीर्थयात्रा करने की इच्छा हुई। इसके अतिरिक्त उस टोली में उनके परिवार के अन्य सदस्य, उनके कुलगुरु के पुत्र तथा अनेक सेवक आदि भी जानेवाले थे। सारी योजना तय हो जाने के बाद उन्होंने श्रीरामकृष्ण को भी अपने साथ चलने के लिये अनुरोध किया। वे भी अपने भानजे हृदयराम के साथ जाने को राजी हो गये। श्रीरामकृष्ण की सहमति पाकर मथुरबाबू को अतीव आनन्द हुआ और वे बड़े उत्साहपूर्वक यात्रा की तैयारी में जुट गये।

१७ जनवरी १८६८ ई. को उनकी टोली ने तीर्थयात्रा के लिये प्रस्थान किया। इस टोली में श्रीरामकृष्ण, हृदयराम, मथुरबाबू, उनकी पत्नी, उनका गुरुपुत्र, मुंशी, रसोइया, पानीवाला और अन्य सेवक तथा कर्मचारी कुल मिलाकर करीब सवा सौ लोग थे। एक द्वितीय श्रेणी के तथा तीन तीसरी श्रेणी के डिब्बे[५] आरक्षित करा लिये गये थे और रेल-कम्पनी से यह तय कर लिया गया था कि कोलकाता से काशी के बीच रास्ते के किसी भी स्टेशन पर ये डिब्बे अलग करवा कर दो-चार दिन के लिये ठहराये जा सकेंगे। इस यात्रा के दौरान यह टोली वैद्यनाथ (देवघर), काशी, प्रयाग तथा वृन्दावन गयी और पुन: काशी, वैद्यनाथ होते हुए कोलकाता लौट आयी। इस यात्रा में कुल चार महीने लगे थे और मथुरबाबू ने लगभग एक लाख रुपये खर्च किये थे।

तीर्थयात्रियों की यह टोली ट्रेन से यात्रा करते हुए पहले देवघर में उतरी, उसके बाद वाराणसी में एक सप्ताह बिताने के उपरान्त फरवरी के मध्य में लगभग १२५ किलोमीटर की यात्रा करके प्रयाग पहुँची। इस मौसम में वहाँ थोड़ी-थोड़ी ठण्ड पड़ती है। उन लोगों ने वहाँ तीन दिन बिताये।

इस प्रसंग में स्वामी सारदानन्द जी लिखते हैं – "शास्त्रीय विधान के अनुसार वहाँ पर मथुरबाबू आदि सभी ने अपने-अपने मस्तक मुण्डित कराये। परन्तु श्रीरामकृष्णदेव ने वैसा नहीं किया। उन्होंने कहा, 'मेरे लिए इसकी आवश्यकता नहीं है।' प्रयाग से मथुरबाबू पुन: काशीधाम वापस आये तथा एक पक्ष वहाँ रहकर वृन्दावन-दर्शन के लिए आगे बढ़े।"[६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीरामकृष्ण ने दो बार तीर्थराज प्रयाग की यात्रा की थी।

माँ श्री सारदा देवी की प्रयाग-यात्रा

१६ अगस्त १८८६ ई. भगवान श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के सात दिन बाद परम भक्त बलराम बसु के विशेष आग्रह पर उनकी लीला-सहधर्मिणी श्रीमाँ सारदा देवी लक्ष्मीमणि के साथ उनके बागबाजार स्थित मकान में आयीं। प्रभु का बिछोह उनके लिये असह्य हो चुका था। उनके चित्त की शोक-विह्वलता क्रमश: बढ़ती जा रही थी।

श्रीरामकृष्ण के विशिष्ट शिष्यों ने आपस में सलाह-मशवरा करके माँ को वृन्दावन आदि तीर्थों की यात्रा पर भेजने का निश्चय किया। बलराम भवन में सात दिन रहने के बाद ३० अगस्त १८८६ ई. को माँ ने तीर्थयात्रा के लिये प्रस्थान किया। साथ में योगेन (स्वामी योगानन्द), काली (स्वामी अभेदानन्द) और लाटू (स्वामी अद्भुतानन्द) थे तथा गोलाप-माँ आदि कुछ भक्त-महिलाएँ भी थीं।

मार्ग में उन लोगों ने देवघर में उतरकर वैद्यनाथ शिव का दर्शन किया और उसके बाद दूसरी गाड़ी से काशीधाम पहुँचे। वहाँ ८-१० दिन रहकर गंगास्नान तथा विश्वनाथ-अन्नपूर्णा का दर्शन करने के बाद वे लोग अयोध्या गये। वहाँ भगवान श्रीरामचन्द्र की लीलाभूमि का अवलोकन करने के बाद उन लोगों ने वृन्दावन की यात्रा की और वहाँ पहुँचकर 'कालाबाबू के कुंज' में ठहरे। वहाँ पर माँ लगभग एक वर्ष रहीं। उन्होंने वहाँ तथा आसपास के सभी मन्दिरों का दर्शन आदि किया और वृन्दावन की परिक्रमा भी सम्पन्न की।

वहीं से वे एक बार हरिद्वार गयीं और यथारीति ब्रह्मकुण्ड में स्नान तथा मन्दिर में दर्शन आदि करने के बाद उन्होंने अपने साथ लाये श्रीरामकृष्ण के केश-नख आदि का कुछ अंश तीर्थजल में विसर्जित किया। इसके बाद उन्होंने जयपुर जाकर गोविन्दजी का दर्शन किया। फिर पुष्कर तीर्थ जाकर उन्होंने सावित्री की पहाड़ी पर आरोहण भी किया। वहाँ से वापस कोलकाता लौटते समय वे लोग प्रयाग में उतरे।

प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम में स्नान करने के बाद

४. Life of Sri Ramakrishna, Mayavati, Ed. 2005, p. 185 (f.n.)

५. उन दिनों रेलगाड़ी में चार श्रेणियाँ होती थीं, प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी, इंटर या मध्य श्रेणी और तृतीय श्रेणी।

६. श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग, प्रथम खण्ड, सं. १९७१, पृ. ४००

(शेष अगले पृष्ठ पर)

रामकृष्ण-भावधारा : एक विहंगम दृष्टि (१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(रामचरितमानस के प्रसिद्ध कथाकार श्री मोरारी बापू ने गुजरात के महुआ ग्राम में जनवरी, २००९ में 'अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सर्वधर्म-सम्मेलन' का आयोजन किया था, जिसमें श्री दलाईलामा से लेकर देश-विदेश के अनेकों धर्मावलम्बियों ने भाग लेकर अपने धार्मिक सद्भाव पूर्ण विचार प्रकट किये थे। श्री मोरारी बापू के हार्दिक आग्रह एवं बेलूड़ मठ के निर्देश पर रामकृष्ण मिशन बेलूड़, मठ के प्रतिनिधि के रूप में, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज, अपने व्यस्त कार्यक्रम के बावजूद इस सम्मेलन में पधारे तथा श्री बापूजी के निवेदन पर स्वामी विवेकानन्द द्वारा अनुमोदित सर्वधर्म-समन्वय का संदेशक 'रामकृष्ण-भावधारा' पर अपना महत्वपूर्ण सर्वजनहितकारी व्याख्यान दिया। हम उसी जनप्रिय व्याख्यान को 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु प्रकाशित कर रहे हैं। इसका सी.डी. से अनुलिखन रायपुर के श्रीदुर्गेश ताम्रकार और कामिनी ताम्रकार ने किया तथा संपादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। - सं)

वंदनीया माताओ, श्रद्धेय मोरारी बापूजी एवं अन्य सुहृद भक्तवृन्द!

अभी हमने इमाम साहब का बहुत सारगर्भित व्याख्यान सुना, जिसमें उन्होंने धर्म के तत्त्व पर चर्चा की। मुझे 'रामकृष्ण-भावधारा' पर विचार रखने को कहा गया है। इसलिये उसी विषय पर मैं कुछ शब्द आपके सामने रखता हूँ।

'रामकृष्ण-भावधारा' को समझने के लिए और उसका जीवन में आचरण करने के लिए हमें हमारे बहुत निकट के इतिहास में जाना पड़ेगा, तब हम इस इतिहास के सूत्र से भगवान श्रीरामकृष्णदेव जी के जीवन और उपदेशों को समझ सकेंगे। जैसा कि अभी इमाम साहब ने कहा था कि इस्लाम को समझना हो, तो हजरत मोहम्मद की जिन्दगी को देखें। उसी प्रकार यदि 'रामकृष्ण भवधारा' को समझना हो, तो श्रीरामकृष्ण परमहंस के जीवन की ओर एक दृष्टिपात करना पड़ेगा। किन्तु इसके पूर्व इस देश के निकट के इतिहास पर एक दृष्टि डालकर इतिहास के सूत्र को पकड़ना आवश्यक है।

भारत में नवजागरण का आरम्भ किसी युद्ध से नहीं हुआ है। बहुत बार हम लोग सोचते हैं कि भारत का नवजागरण १८५७ के युद्ध से प्रारम्भ हुआ, पर ऐसी बात नहीं है। १८५७ का प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम उससे १०० वर्ष पूर्व से भी अधिक चल रहे भारतीय धार्मिक नवजागरण का परिणाम था। आप में से जो लोग इतिहास में रुचि रखते हैं या इतिहास के विद्यार्थी होंगे, वे जानते हैं कि हमारे देश के इस नवजागरण का प्रथम शंख-नाद राजाराम मोहन राय ने किया था, जो भारत के नवजागरण के पुरोधा कहे जाते हैं। लोग उनको भारतीय नवजागरण का 'भीष्म पितामह' भी कहते हैं। राजा राममोहन राय का जन्म २२ मई, १७७२ में बंगाल के एक उच्च ब्राह्मण कुल में हुआ था। उनके पिता बड़े उच्च धार्मिक व्यक्ति थे। उन्होंने उनको पटना (बिहार) में पढ़ने के लिए भेजा। पटना में उन्होंने अरबी और फारसी भाषा का गहन अध्ययन किया। उनका ब्राह्मण परिवार में जन्म हुआ था, इसलिये उन्होंने संस्कृत भी सीखा। मूल कुरान के इतने बड़े विद्वान् थे कि उनके समकालीन बड़े-बड़े मौलवी भी उतने बड़े विद्वान् नहीं थे, जितने बड़े राजा राममोहन राय थे। राजा राममोहन राय ने इस्लाम को मूल अरबी में पढ़ा और उपनिषद् को उसके मूल संस्कृत भाषा में पढ़ा। जब वे १७ वर्ष के थे, तभी उन्होंने फारसी में एक पुस्तक लिखी और उसकी भूमिका उन्होंने अरबी भाषा में लिखी, जिसमें उन्होंने मूर्ति-पूजा का खंडन किया कि वेदों में या हिन्दू धर्म में मूर्ति-पूजा की बात नहीं है या अनुचित है। इससे रुष्ट होकर उनके पिता ने उनको घर से निकाल दिया। तब से राजा राममोहन राय देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करते रहे।

राजा राममोहन राय ने देखा कि देश की जो दुर्दशा आज दीख रही है या देश का जो पतन आज दीख रहा है, उसका कारण यह है कि भारतवासियों ने अपने धर्म को भूला दिया है और केवल अंधविश्वासों को लेकर चल रहे हैं।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

माँ ने श्रीरामकृष्ण के बाकी केश और नख वहीं विसर्जित कर दिये। उस दिन की घटना का उल्लेख करते हुए एक बार उन्होंने कहा था, "श्रीरामकृष्ण के केश क्या साधारण वस्तु हैं! उनके देहत्याग के बाद जब मैं प्रयाग गयी, तो तीर्थ में विसर्जन हेतु उनके केश भी साथ ले गयी थी। उनके केश हाथ में लेकर मैं उन्हें गंगा-यमुना-संगम के शान्त जल में डालने ही वाली थी कि सहसा एक लहर उठी और मेरे हाथों से केशों को लेकर फिर संगम के जल में विलीन हो गयी। तीर्थ ने स्वयं पवित्र होने के लिए मेरे हाथ से उनके केश ले लिये थे।"

लक्ष्मी दीदी विधवा थीं, अत: उन्होंने वहाँ मुण्डन कराया, परन्तु श्रीमाँ ने ऐसा नहीं किया। श्रीमाँ के हृदय में उस समय श्रीरामकृष्ण से नित्य मिलन हो रहा था और चर्म-चक्षुओं से भी उनके दर्शन हो रहे थे, अत: उनके लिये मुण्डन कराना सम्भव नहीं हुआ। इस प्रकार तीर्थ-दर्शन पूरा करके वे कोलकाता लौट आयीं।[७] ❑❑❑

७. श्रीमाँ सारदा देवी, स्वामी गम्भीरानन्द, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, सं. १९८१, पृ. १७६-१८४

इसी बीच उन्होंने भारतीय धर्म के साथ-साथ ईसाई धर्म का गहन अध्ययन किया था। तब तक अंग्रेज यहाँ आ गये थे। देश में सती-प्रथा थी। देश में विधवा-विवाह का विरोध था। दुर्भाग्य से राजा राममोहन राय के बड़े भाई की मृत्यु हो गयी और उनकी आँखों के सामने उनकी भाभी को सतीत्व के नाम से जिन्दा जला दिया गया।[१] इससे वे बड़े दुखी हुए। इस प्रथा को बंद करने के लिए शासकीय सहायता की आवश्यकता समझकर वे ब्रिटीश राज में काम करने लगे। फिर विलियम लॉर्ड बेंटिक को कहकर वह प्रथा उन्होंने समाप्त की। यह एक ऐतिहासिक छोटी-सी घटना है। किन्तु मूल बात जो मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ, वह यह है कि राजा राममोहन राय ने इस पूरे भारतवर्ष को जगाने के लिये हमारे धार्मिक आधारों का आश्रय लिया। उन्होंने कलकत्ते में २० अगस्त, १८२८ को 'ब्राह्म-समाज' नामक संस्था की स्थापना की।[२] उसकी कुछ शाखायें अभी भी हैं। उसमें बहुत से परिवर्तन होते रहे। ब्राह्म-समाज में कुछ बातें मूलत: उन्होंने उपनिषद् से लिया। यद्यपि उन्होंने इस्लाम का नाम नहीं लिया, पर इस्लाम के कुछ सिद्धान्त जो मूलत: भारतीय सिद्धान्त थे, उन्होंने स्वीकार कर लिया। किन्तु राजा राममोहन राय ने कहा कि मूर्ति-पूजा शास्त्र-विरुद्ध है। मूर्तिपूजा से आपका कल्याण नहीं हो सकता। यदि आप राम, कृष्ण, शिव, अंजनी की या किसी की भी मूर्ति रखें, तो आप केवल पौत्तलिक हैं – मूर्ति-पूजक हैं, इससे आपकी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती।

किन्तु उपनिषद् के ज्ञानमूलक सिद्धान्त उन्होंने लिए। विशेषकर समाज सुधार की बातें उन्होंने अधिक कहीं। जैसे विधवा-विवाह को उन्होंने बंद करने का प्रयास किया। सती-प्रथा को विलियम लार्ड बेंटिक से कहकर कानूनन बंद कराया। जाति-पाति की प्रथा और पुनर्विवाह आदि-आदि समाजिक सुधार के प्रयास किये। २७ सितम्बर, १८३३ को इंग्लैंड के ब्रिस्टल नामक स्थान में उनकी मृत्यु हो गयी।

राजा राममोहन राय की मृत्यु के पश्चात् 'ब्राह्म समाज' की बागडोर देवेन्द्र नाथ ठाकुर के हाथ में आई, जो विश्वप्रसिद्ध कवि महर्षि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता जी थे। देवेन्द्र नाथ धार्मिक व्यक्ति थे। उनको संस्कृत का ज्ञान था। उन्होंने राजा राममोहन राय के ब्राह्म-समाज को उपनिषद्-प्रधान बनाया। उसमें उन्होंने उपनिषदों के मंत्र लिये तथा उनकी व्याख्या अपने ढंग से की। उनकी प्रार्थना-पद्धतियाँ लीं और इस प्रकार उसका प्रचार-प्रसार किया। किन्तु वे भी मूर्ति-पूजा के विरोधी ही रहे। उन्होंने कहा कि मूर्ति-पूजा उचित नहीं है या यह हिन्दू धर्म का अंश नहीं है। यही हमारे पतन का कारण है। ब्राह्म-समाज में राजा राममोहन राय से लेकर देवेन्द्र नाथ ठाकुर तक, सभी एक स्वर में कहते रहे कि मूर्ति-पूजा, जात-पात, बाल-विवाह, विधवा-विवाह आदि हिन्दू समाज के दोष हैं और ईसाई पादरी जो इस देश में कुछ वर्षों पहले आये हैं तथा ये लोग जो हिन्दू धर्म की निन्दा कर रहे हैं, वह ठीक है, हिन्दू धर्म के ये भाग त्याज्य हैं। मैं अत्यन्त संक्षेप में आपसे निवेदन कर रहा हूँ। क्योंकि इस भूमिका को जानने के बाद ही हम समझ सकेंगे कि कैसे श्रीरामकृष्ण देव ने अपने जीवन से सबका समन्वय किया था।

बाद में देवेन्द्र नाथ ठाकुर के पास तत्कालीन बंगाल के अत्यन्त प्रतिभावान युवक श्री केशवचन्द्र सेन जी आये। उस समय केशवचन्द्र सेन की उम्र १८-१९ वर्ष की रही होगी। केशवचन्द्र सेन को संस्कृत का ज्ञान नहीं था, किन्तु बंगाली और अंग्रेजी भाषा के वे पंडित थे। उन्होंने अंग्रेजी में ईसाई-साहित्य बाइबिल बहुत अच्छी तरह पढ़ी। ईसाई-पुराणों को पढ़ा और वे भी इस बात से सहमत हो गये कि मूर्ति-पूजा निन्दनीय है और इसाई-पादरी जो हमारी मूर्तियों की निंदा करते हैं, वह बिल्कुल ठीक है। हिन्दुओं को मूर्ति-पूजा त्याग देना चाहिए, जाति-पाति नहीं मानना चाहिए, सब जाति एक है। इस प्रकार उन्होंने कुछ समाज-सुधार के नियम बनाये। उन समाज-सुधार के नियमों में एक विवाह का नियम भी था, जिसमें उन्होंने कुमारी कन्या और कुमार युवक के विवाह की एक उम्र निर्धारित की। जब तक वे बालिग न हों, उनका विवाह नहीं करना चाहिए।

हम हिन्दुओं की यह विशेषता है कि हम विद्वानों का सम्मान करते हैं, किन्तु पूजा हम संतों की ही करते हैं। आप एक भी उदाहरण ऐसा नहीं बता सकेंगे कि कोई भी वैदिक धर्मवादी या हिन्दू किसी विद्वान् की पूजा करता हो। विद्वान् को वह मानता है, उनको सम्मान देता है। हम विद्या का आदर करते हैं, किन्तु पूजा संतों की करते हैं, बात हम संतों की ही मानते हैं। क्या संत रैदास, दादू और कबीर कोई विद्वान् थे? पर देश के बड़े-से-बड़े विद्वान् उनकी पूजा करते हैं। यह हमारे धर्म की विशेषता है। वेदान्त-धर्म अनुभूति में विश्वास रखता है – अनुभूति अवसानत्वात् – धर्म का परिपाक अनुभूति में होता है। धर्म की परिणति किसमें होती है? धर्म की परिणति अनुभूति में होती है।

केशवचन्द्र सेन ने विवाह का नियम बनाया। जब उन्होंने यह नियम बनाया, तब वे गृहस्थ थे। उनकी एक कन्या थी। वह कन्या यद्यपि सयानी हो गयी थी, किन्तु केशवचन्द्र सेन के बनाये हुए नियमों के अनुसार उसकी अवस्था कम थी, इसलिए उसका विवाह नहीं होना चाहिए था। उस समय

---

१. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, द्वितीय संस्करण, पुनरावृति १९९७, पृष्ठ-५३७

२. वही, पृष्ठ-५४१

कूच बिहार के राजकुमार की विवाह की चर्चा राजा के घर में चली। तब तक केशवचन्द्र सेन केवल भारत में ही नहीं विदेशों में भी प्रसिद्ध हो गये थे। वे अँग्रेजी भाषा में बहुत अच्छे प्रकांड वक्ता थे। विशेष कर ईसाई-साहित्य का उन्होंने गहन अध्ययन किया था। तत्कालीन भारत के कुछ लोग कहा करते थे कि केशवचन्द्र सेन सारे भारत को ईसाई बना देगें, और वे ईसाईयत के रंग में रंग गये हैं। संस्कृत भाषा का उनको ज्ञान नहीं था, इसलिए उदाहरण भी वे भगवान ईसा मसीह के जीवन से ही दिया करते थे और उन्हीं के जीवन के सम्बन्ध में चर्चा भी किया करते थे। केशवचन्द्र सेन ने देखा कि मेरी कन्या के विवाह के लिये कूच बिहार के राजा के राजकुमार का प्रस्ताव आया है, तो उन्होंने उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और अपने अनुयायियों को कहा कि यह ईश्वर की इच्छा है। वे ब्राह्म-समाज के इतने बड़े नेता थे, उनके स्वयं के द्वारा तोड़ा गया नियम उनके अनुयाइयों को अच्छा नहीं लगा। एक समय ब्राह्म-समाज राजा राममोहन राय का था। देवेन्द्र नाथ ठाकुर के पास आने के बाद उसमें थोड़ा-सा परिवर्तन हुआ। केशवचन्द्र सेन के आने के बाद वह ईसाईयत का भारतीयकरण हो गया। जब केशवचन्द्र सेन ने अपनी उस नाबालिग कन्या का विवाह कूच बिहार के राजकुमार से कर दिया, तब ब्राह्म-समाज विखंडित हो गया। उसके दो भाग हो गये – एक 'साधारण ब्राह्म-समाज' और दूसरा 'ब्राह्म-समाज'। ये सभी लोग उपनिषद् की प्रार्थना करते थे, धर्म का प्रचार करते थे, किन्तु इतना सब करते हुए भी, इनमें से कोई भी समग्र रूप से हिन्दु धर्म को स्वीकार नहीं करते थे। वे लोग कहते थे कि मूर्ति-पूजा मिथ्या है, तुम्हारे पुराणों की कथायें मिथ्या हैं। राम, कृष्ण हुए कि नहीं हुए, स्पष्ट न भी कहें, तो भी परोक्ष रूप से कहा करते थे कि ये सब मिथ्या है।

इस घटना के थोड़े पहले इसी पवित्र गुर्जर-भूमि (गुजरात) से स्वामी दयानन्द सरस्वती (मूलशंकर) जी आये। तत्कालीन भारत में और अभी तक उनके समान संस्कृत-भाषा और व्याकरण का विद्वान् सन्त दूसरा कोई नहीं हुआ। उनके व्याकरण का ज्ञान अद्वितीय था। संस्कृत व्याकरण पर कदाचित् भगवान आदि शंकराचार्य के समान ही उनका अधिकार था। वे पुरानी पद्धति से संस्कृत पढ़े थे। जब वे मथुरा में अपने गुरु विरजानन्द जी के पास पढ़ने को गये, तो उनके गुरुजी ने कहा कि जो आज तक तुमने पढ़ा है, उसे यमुना में विसर्जित कर दो। उन्होंने उसे विसर्जित कर दिया और उनके गुरु के ढंग से पढ़ा। पढ़ाई समाप्त होने पर उन्होंने गुरुजी से कहा कि गुरुजी, मेरे पास तो कुछ नहीं है। मैं ब्रह्मचारी हूँ। (तब तक उनका संन्यास नहीं हुआ था) मैं आपको क्या गुरु दक्षिणा दूँ? उनके गुरुजी ने कहा – मैंने जो तुझे पढ़ाया है, उसका जनता में प्रचार कर। यही तेरी गुरु-दक्षिणा होगी। बाद में उन्होंने संन्यास लिया। यद्यपि वे बहुत बड़े सन्त थे। आप-हम उनकी चरणधूलि भी नहीं हैं। मैं किसी की निन्दा नहीं कर रहा हूँ। आपके सामने इतिहास इसलिए रख रहा हूँ कि इस परिप्रेक्ष्य में हम श्रीरामकृष्ण देव के जीवन और उनके विचारों को अच्छी तरह समझ सकेंगे। दयानन्द सरस्वती जैसे उद्‌भट् विद्वान् सन्त, वेदों के परम पारंगत विद्वान् ने भी कहा कि वेदों में मूर्ति-पूजा का प्रतिपादन नहीं है। उन्होंने भी मूर्ति-पूजा का खंडन किया। उतना ही नहीं मूर्तिपूजा के खंडन के साथ-साथ हिन्दू धर्म की अन्य जो विभिन्न पौराणिक विधायें थीं, अनुष्ठान थे, जैसे मंदिरों में जाकर लोग मनौती करते हैं, पूजा चढ़ाते हैं, कृष्ण की, राम की, गणेश की, शिव की पूजा करते हैं, उन सबका उन्होंने खण्डन किया। उन्होंने विरोध इसीलिए किया कि जब वे छोटे थे, तब एक बार शिवरात्रि के दिन उन्होंने देखा कि लोग उपवास करके जग रहे हैं और एक चूहा शिवलिंग पर चढ़ रहा है। तब के मूलशंकर और बाद के दयानन्द सरस्वती को ऐसा लगा कि जो शिव अपनी स्वयं की रक्षा नहीं कर सका, वह उसके उपासक भक्तों की क्या रक्षा करेगा? उन्होंने तुरन्त उपवास तोड़ दिया और मूर्ति-पूजा के विरोधी हो गये। उन्होंने हिन्दू समाज का, भारत का बहुत कल्याण किया, किन्तु इतना होते हुए भी, उन्होंने भी मूर्ति-पूजा और जातिवाद का विरोध ही किया। अब उन्होंने एक-एक करके खंडन करना प्रारम्भ किया। उन्होंने इस्लाम और ईसाईयत की बखिया उधेड़ दी। आप यदि 'सत्यार्थ प्रकाश' पढ़ें, तो समझेंगे कि उससे अधिक उन्होंने वैष्णव धर्म की बखिया उधेड़ी। पढ़कर अत्यंत धीरज रखने वाला व्यक्ति भी विचलित हो जायेगा। अगर आपके हृदय में अत्यन्त धैर्य न हो, तो आप उसे न पढ़ें। पहले धैर्य संचित कर लें तब उसको पढ़ें। उन्होंने वल्लभ-संप्रदाय की बखिया उधेड़ी। उन्होंने उपनिषदों को स्वीकर नहीं किया। गीता को स्वीकार नहीं किया। राम और कृष्ण परम पुरुष थे, किसी प्रकार से नहीं माना। जैसे दूसरे लोग थे, वैसे वे लोग भी सामान्य व्यक्ति हैं। ऐसी उनकी मान्यता थी।

(शेष आगामी अंक में)

भक्त बलराम बोस

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

बलराम बोस (१८४२-१८९०) एक धनी वैष्णव भक्तों के परिवार में पैदा हुए थे। उनके पिता राधारमण बोस अपना अधिकांश समय भगवन्नाम-जप में बिताया करते। उड़ीसा में उनकी अच्छी-खासी जमींदारी थी। उन्होंने कोठार, वृन्दावन तथा अन्य कई स्थानों में राधाकृष्ण के मन्दिर बनवाये थे और साथ ही नि:शुल्क धर्मशालाओं की भी स्थापना की थी। बलराम को अपने पिता से विरासत में उनकी ईश्वर-भक्ति तथा सांसारिक जीवन से विरक्ति प्राप्त हुई थी। उन्होंने अपनी जमींदारी तथा अन्य सम्पत्तियों की देखरेख की जिम्मेदारी अपने चचेरे भाइयों को सौंप दिया था। वे लोग उन्हें प्रति माह जो कुछ दे देते, वे उसी में सन्तुष्ट रहते। श्रीरामकृष्ण से भेंट होने से पहले वे जगन्नाथ-पुरी में रहते थे। उन्होंने ग्यारह वर्ष से भी अधिक काल वहीं बिताया और अपनी पत्नी तथा बच्चों के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए भी वे अपना अधिकांश समय भगवन्नाम के जप तथा सत्संग में बिताते और प्रतिदिन नियम से जगन्नाथजी का दर्शन करने जाते। इससे उनके पिता और चचेरे भ्रातागण बड़े आशंकित हो गये कि बलराम कहीं गृहस्थ जीवन का त्याग न कर दें। वे लोग बलराम पर दबाव डालने लगे कि वे कलकत्ते के ५७, रामकान्त बसु स्ट्रीट पर स्थित भवन में जाकर निवास करें, जिसे उनके चचेरे भाई हरिवल्लभ ने खरीदा था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रतिदिन भगवान जगन्नाथजी के दर्शन तथा साधुसंग से वंचित होने के विचार ने बलराम के मन में खिन्नता उत्पन्न कर दी।[१] तो भी उन्होंने प्रस्ताव को मान लिया, क्योंकि वह उनकी तत्कालीन मन:स्थिति के अनुकूल था। पुरी में रहते समय उन्होंने केशवचन्द्र सेन द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं में रामकृष्ण परमहंस के सम्बन्ध में पढ़ा था और उनके मन में उनके दर्शन करने की इच्छा जगी थी।

इस विषय में उन्होंने एक युवा ब्राह्मण रामदयाल को एक पत्र लिखा था, जिसका उत्तर उन्हें दस सप्ताह बाद मिला।[२] रामदयाल कलकत्ते में बोस-भवन में ही रहते थे। उन्होंने श्रीरामकृष्ण के कई बार दर्शन किये थे। रामदयाल ने अपनी लेखनी से दक्षिणेश्वर के सन्त का जो चित्र खींचा था, उसने बलराम को इतना मुग्ध किया कि वे सन्त के दर्शन हेतु शीघ्र आने के प्रस्ताव से तत्काल सहमत हो गये। कुछ काल बाद ही वे कलकत्ता आये और अगले दिन ही दक्षिणेश्वर गये। ऐसा लगता है कि उनकी योजना कुछ काल कलकत्ते में बिताकर पुरी लौट जाने की थी; परन्तु वे लौटे नहीं, या यों कहें कि लौट नहीं सके। खैर, यह तो उस कथा का अगला पर्व है, जिसकी शुरुआत यहाँ से होने जा रही है।

सम्भवत: १८८१ ई. की पहली जनवरी का दिन था।[३] बलराम रामदयाल के साथ दक्षिणेश्वर रवाना हुए।[४] वहाँ पहुँचते-पहुँचते दिन का तीसरा पहर हो चुका था। श्रीरामकृष्ण को पहचानना कठिन नहीं था, क्योंकि उस दिन वे केशवचन्द्र सेन तथा अन्य अनेक ब्राह्म-भक्तों के सत्कार में लगे थे।

केशव वहाँ अपराह्न के लगभग चार बजे पहुँचे थे। एक कीर्तन का आयोजन हुआ था, जिसमें केशव तथा अन्य सभी ने भाग लिया। नि:सन्देह श्रीरामकृष्ण ही आकर्षण के मूल केन्द्र थे। यह टोली पंचवटी से चलकर श्रीरामकृष्ण के कमरे की ओर आने लगी। हृदय ने सिंगी बजाया, गोपीदास ने खोल (ढोल) तथा दो भक्तों ने मंजीरे। श्रीरामकृष्ण सिंह-बल से नृत्य कर रहे थे, फिर वे समाधि में निमग्न हो गये। बाह्य चेतना लौटने पर वे अपने कमरे में बैठे और केशव तथा अन्य लोगों से बातें करने लगे। श्रोतागण एकाग्र-चित्त से श्रीरामकृष्ण की वाणी सुनने लगे, ''ईश्वर के लिए बालक की तरह रोना चाहिए। यही व्याकुलता है! फिर खेल, खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता। यह व्याकुलता तथा उनके लिए रोना, भोग के क्षय होने पर होता है।''[५]

लगभग तभी, या शायद इसके कुछ ही पूर्व, बलराम

१. श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग, खण्ड २, सं. २००८, पृ. ९४४; तथा श्रीरामकृष्ण-लीलामृत (बँगला), वैकुण्ठनाथ सान्याल, सं. १, पृ. ३५५

२. श्रीरामकृष्ण पोथी (बँगला), अक्षयकुमार सेन, सं. ५वाँ, पृ. २७२

३. श्रीरामकृष्ण पोथी (पृ. २७३) तथा 'म' रचित 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' (भाग २, सं. १९९९, पृ. ११७९-८२) में लिपिबद्ध १ जनवरी, १८८१ के विवरण में श्रीरामकृष्ण तथा केशव के बीच हुए वार्तालाप का जो वर्णन है, उसे यदि हम बारीकी से देखें, तो दोनों में – विशेषकर 'फूल के कमरे में मछुवारिन' वाले दृष्टान्त में, बड़ी समानता दिखती है। पोथी तथा वचनामृत के इन विवरणों को प्रामाणिक मानने पर, निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि बलराम ने १ जनवरी, १८८१ ई. को पहली बार श्रीरामकृष्ण का दर्शन किया था।

४. श्रीरामकृष्ण-चरित (बँगला), गुरुदास बर्मन, पृ. २६४

५. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग २, सं. १९९९, पृ. ११८१

तथा उनके साथी श्रीरामकृष्ण के कमरे में प्रविष्ट हुए थे। गोधूलि की वेला थी। कमरा खचाखच भरा हुआ था। कुछ लोग बाहर भी खड़े थे। बलराम ने श्रीरामकृष्ण को झुककर प्रणाम किया और उनके चरणों की धूलि ली। श्रीरामकृष्ण ने प्रति-अभिवादन किया। बलराम गौर वर्ण के तथा डील-डौल में मँझोले थे। उनके दाढ़ी थी। वस्त्र तो उन्होंने बंगाली की तरह पहने थे, पर उनके सिर पर सिक्खों-जैसी एक सफेद पगड़ी बँधी थी।[६] वे करीब ३९ वर्ष के थे। उनकी विनम्रता, मधुर व्यवहार और हँसमुख चेहरा उनके हृदय के बहुमूल्य गुणों को प्रकट कर रहे थे। जैसा कि उनका स्वभाव था,[७] वे कमरे के एक कोने में चुपचाप बैठ गये। सम्भव है कि उचित अवसर देखकर रामदयाल ने बलराम का श्रीरामकृष्ण से परिचय कराया होगा।

श्रीरामकृष्ण ने तुरन्त उन्हें जगन्माता द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति के रूप में पहचान लिया, जो उनका अन्तरंग भक्त होनेवाला था और जिसके आगमन की वे बहुत दिनों से प्रतीक्षा कर रहे थे। बाद में उन्होंने बलराम के विषय में कहा था, "वह चैतन्य महाप्रभु का अन्तरंग भक्त है। वह यहाँ (अपनी ओर संकेत करते हुए) का है। मैंने भाव में देखा कि कैसे महाप्रभु ने अद्वैत और नित्यानन्द जैसे महापुरुषों के साथ देश में हरि-नाम की बाढ़ ला दी और उनके अद्‌भुत संकीर्तन-दल ने जाने कितने नर-नारी-आबाल-वृद्ध सबको भाव-विभोर कर दिया। उस संकीर्तन-दल में मैंने उसे (बलराम को) देखा था।" इस दर्शन के बाद श्रीरामकृष्ण के मानस-पटल पर बलराम का सौम्य, भक्ति-उद्भासित चेहरा सदा-सर्वदा के लिए अंकित हो गया था।[८] अत: अब उनके लिए बलराम को पहचानना कठिन न था।[९]

श्रीरामकृष्ण तब लगभग पैंतालीस वर्ष के थे। उनका वह हँसमुख, भगवद्‌भाव के आनन्द से दमकता चेहरा ऐसा मोहक था कि बलराम का हृदय पहली ही दृष्टि में उनका हो गया। उनके हृदय में एक हलचल मच गयी, जिसका कारण वे स्वयं नहीं समझ पाये। सहज रूप से ही उन्हें ऐसा लगने लगा कि श्रीरामकृष्ण उनके नितान्त अपने हैं। उनकी मधुर वाणी ने बलराम को एकदम मोह लिया। बीच में थोड़ा समय निकालकर बलराम ने प्रसिद्ध ब्राह्मनेता केशव की ओर गौर किया, जो आँखों में अचरज का भाव ले श्रीरामकृष्ण के वचनों को सुनते हुए चुप बैठे थे।

थोड़ी देर बाद हृदयराम ने सूचना दी कि अतिथि-अभ्यागतगण माँ काली का प्रसाद लेने चलें। श्रीरामकृष्ण ने भी केशव तथा अन्य लोगों से अनुरोध किया कि वे लोग चलकर प्रसाद पा लें। श्रीरामकृष्ण के कमरे से लगे हुए पूर्वी बरामदे में बैठने की व्यवस्था की गयी थी। केशव और अन्य आमंत्रित जन धीरे धीरे वहाँ जाकर बैठे। अब श्रीरामकृष्ण ने बलराम को समीप आने का इशारा किया और कहा, "बोलो तुम्हें क्या कहना है?"

बलराम ने पूछा, "महाराज, क्या ईश्वर है?"

"निस्सन्देह ईश्वर हैं" – तत्काल उत्तर मिला।

"तो क्या उनके दर्शन हो सकते हैं?"

"ईश्वर अपने को उस भक्त के समक्ष प्रकट करते हैं, जो उन्हें अपना सबसे निकट और परम प्रिय मानकर उनका चिन्तन करता है। यदि एक बार उनसे प्रार्थना करने पर उत्तर न मिले, तो ऐसा निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि वे नहीं हैं। यदि सूर्य के प्रकाश में तारे नहीं दिखते, तो क्या तुम कहोगे कि दिन में तारों का अस्तित्व ही नहीं होता?"

बलराम ने विनम्रतापूर्वक पूछा, "तो फिर मैं इतनी प्रार्थना करके भी उन्हें देख क्यों नहीं पाता?"

श्रीरामकृष्ण मुस्कुराते हुए बोले, "क्या तुम ईश्वर से वैसे ही लगाव के साथ प्रार्थना करते हो, जैसा लगाव व्यक्ति का अपने बच्चों और नाती-पोतों के प्रति रहता है?"

सरल-हृदय बलराम ने स्वीकार किया, "नहीं, महाराज, मुझे नहीं लगता कि मैंने कभी उन्हें अपना सबसे निकट और परम प्रिय माना हो।"

श्रीरामकृष्ण बोले, "ईश्वर को स्वयं से भी अधिक प्रिय मानकर उनसे प्रार्थना करो। मैं सच कहता हूँ, वे अपने भक्तों से बहुत प्यार करते हैं। मनुष्य उन्हें खोजे, इसके पहले ही वे उसके पास चले आते हैं। यदि भक्त उनकी ओर एक कदम चले, तो वे भक्त की ओर दस कदम आ जाते हैं। ईश्वर की अपेक्षा अधिक अन्तरंग और प्रेमी दूसरा कोई नहीं है।"[१०]

बलराम को कभी किसी ने इतने विश्वस्त ढंग से ईश्वर के बारे में नहीं बताया था। श्रीरामकृष्ण का हर शब्द उन्हें सत्य

६. श्रीरामकृष्ण पोथी (बँगला), पूर्वोद्धृत, पृ. २७१
७. 'म' ने बलराम का एक चित्र दिया है, "अब भक्तगण बरामदे में बैठे प्रसाद पा रहे हैं। दासवत् बलराम खड़े हैं। देखने से समझा नहीं जाता कि ये इस मकान के मालिक हैं।" (वचनामृत, भाग १, पृ. २३)
८. श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग, खण्ड २, सं. २००८, पृ. ८९८, ७१७
९. प्रथम दर्शन के दूसरे ही दिन सुबह बलराम पुन: दक्षिणेश्वर गये। इस दूसरी भेंट में श्रीरामकृष्ण उनसे बोले, "देखो, माँ ने मुझे बताया है कि तुम मेरे अपने हो और यह भी कि तुम माँ के एक रसददार हो। वहाँ तुम्हारे घर में यहाँ के लिए बहुत-सी चीजें संग्रहित हैं। कुछ खरीदकर यहाँ भेज देना।" (गुरुदास बर्मन, श्रीश्रीरामकृष्ण-चरित, पृ. १९७)। स्वामी सारदानन्द ने लिखा है, "श्रीरामकृष्ण ने बलराम बाबू का कभी अपने रसददारों में से एक कहकर उल्लेख किया हो, यह हमें विदित नहीं है, परन्तु उनके जिस प्रकार सेवाधिकार को हमने देखा है, वह हमारी दृष्टि में अद्‌भुत प्रतीत हुआ है।" (श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग, खण्ड २, पृ. ७१८)
१०. इस वार्तालाप के लिये देखें – श्रीरामकृष्ण-चरित (बँगला), गुरुदास बर्मन, पृ. १९५-९६

प्रतीत हुआ। वे वर्षों से साधना कर रहे थे, तथापि ऐसी तीव्र भावना के साथ उन्होंने कभी साधना नहीं की थी। श्रीरामकृष्ण के शब्दों में बलराम को एक नया आलोक मिला। उनके समक्ष आध्यात्मिक जीवन का एक नया आयाम खुल गया।

श्रीरामकृष्ण द्वारा दिये गये भोज में अन्य लोगों के साथ बलराम भी सम्मिलित हुए। अतिथियों को पत्तल में पहले मुरमुरे, नारियल, अदरक आदि परोसे गये; तदुपरान्त पूरियाँ तथा विभिन्न प्रकार की सब्जियाँ दी गयीं और अन्त में दही तथा मिठाइयाँ। श्रीरामकृष्ण स्वयं निरीक्षण करते रहे और लोगों ने बड़े उल्लासपूर्वक छककर भोजन किया। उनके एक भक्त यदु मल्लिक ने इस भोज का व्ययभार वहन किया।[११]

भोजन के बाद श्रीरामकृष्ण केशव तथा अन्य भक्तों के साथ पंचवटी में गये और पुन: धर्मचर्चा में लग गये। रात के करीब ग्यारह बजे ब्राह्मभक्त घर लौटने को बेचैन होने लगे और थोड़ी देर बाद ही उन लोगों ने श्रीरामकृष्ण से विदा ली।

बलराम ने विदा लेने से पूर्व श्रीरामकृष्ण के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। श्रीरामकृष्ण ने उनसे स्नेहपूर्वक कहा, "फिर आना!" बलराम घर की ओर चले, पर अपना मन मानो दक्षिणेश्वर में ही छोड़ चले। श्रीरामकृष्ण के पावन सान्निध्य ने उन्हें इतना मुग्ध कर लिया था कि वे अगली ही सुबह को पुन: दक्षिणेश्वर की ओर चल पड़े।

बलराम शीघ्र ही श्रीरामकृष्ण के भावों में अनुप्राणित हो उठे। "श्रीरामकृष्ण के पुण्य-दर्शन से बलराम का मन पूर्णत: रूपान्तरित होकर बड़ी द्रुत गति से अध्यात्म-राज्य में अग्रसर हो रहा था। थोड़े समय में ही वे बाह्य पूजा-अर्चना आदि वैधी भक्ति की सीमा को पार करके ईश्वर में पूर्ण निर्भरशील तथा सद्-असद्-विचारवान होकर संसार में निर्वाह करने में समर्थ हुए थे; पत्नी-पुत्र-धन-जन आदि सर्वस्व उनके चरण-कमलों में निवेदित करके दास की तरह संसार में रहकर, जितना अधिक सम्भव हो, उनकी आज्ञा का पालन और उनका पवित्र संग – यही बलराम के जीवन का उद्देश्य हो गया था।"[१२]

श्रीरामकृष्ण बलराम के ५७, रमाकान्त बसु स्ट्रीट वाले मकान में सौ से भी अधिक बार गये थे।[१३] वे कलकत्ते के अन्य जितने भी घरों में गये, उन सबसे यह संख्या निश्चय ही अधिक थी। यदि दक्षिणेश्वर मन्दिर को 'माँ काली का किला' कहा जाय, जैसा कि श्रीरामकृष्ण उसे विनोदपूर्वक कहा करते, तो बलराम का निवास 'उनका दूसरा किला' कहा जा सकता है। श्रीरामकृष्ण के कथनानुसार – केवल बलराम नहीं, बल्कि उनके परिवार के सभी लोग 'एक सुर में बँधे' हुए थे।[१४]

'माँ के एक रसददार' के रूप में उन्होंने श्रीरामकृष्ण की सेवा की और बाद में जब उन्होंने लीला-संवरण कर लिया, तो १३ अप्रैल १८९० में अपनी मृत्यु होने तक वे श्री माँ सारदा देवी तथा वराहनगर मठ के संन्यासी गुरुभाइयों की सेवा करते रहे। इसके अतिरिक्त उन्होंने श्रीरामकृष्ण के युगकार्य के प्रति भक्ति तथा सेवा का भाव बनाये रखकर एक आदर्श गृहस्थ का जीवन बिताया; और संसारी जीवन में भटके अनेक दिग्भ्रमित लोगों के लिये वे एक प्रेरणा-स्रोत बन गये। ❑❑❑

११. श्रीरामकृष्ण पोथी (बँगला), पूर्वोद्धृत, पृ. २७३

१२. श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग, खण्ड २, सं. २००८, पृ. ८९८

१३. बलराम बोस ने आगमन की इन तिथियों को पंचांग में अंकित करके रखा था; द्रष्टव्य – वैकुण्ठनाथ सान्याल कृत 'श्रीरामकृष्णलीलामृत', (बँगला में), पृ. ३५८। 'म' ने 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' (भाग २, पृ. ८५७) में अपने हृदगत भावों को प्रकट करते हुए लिखा है, "बलराम, तुम धन्य हो! आज तुम्हारा ही घर श्रीरामकृष्ण का प्रधान कार्य-क्षेत्र हो रहा है। यहाँ श्रीरामकृष्ण कितने ही नये नये भक्तों को आकर्षित कर प्रेमरज्जु से बाँध रहे हैं, भक्तों के साथ कितना नृत्य करते हैं, गाते हैं। मानो श्रीचैतन्यदेव ने श्रीवास के भवन में प्रेम की हाट बसा दी हो!"

१४. श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग, खण्ड २, सं. २००८, पृ. ७१९

जीव लोहा है और ईश्वर चुम्बक

जैसे दीपक में तेल न हो, तो वह जल नहीं सकता, वैसे ही ईश्वर न हों, तो मनुष्य जी नहीं सकता।

ईश्वर और जीव का बहुत ही निकट का सम्बन्ध है – जैसे चुम्बक और लोहे का; तो भी ईश्वर जीव को आकर्षित क्यों नहीं कर पाता? यदि लोहे पर बहुत अधिक कीचड़ लिपटा हो, तो जैसे वह चुम्बक के द्वारा आकृष्ट नहीं होता, वैसे ही जीव यदि मायारूपी कीचड़ में अत्यधिक लिपटा हो, तो उस पर ईश्वर के आकर्षण का असर नहीं होता। फिर जैसे कीचड़ को जल से धो डालने पर लोहा चुम्बक की ओर खिंचने लगता है, वैसे ही जब जीव अविरत प्रार्थना और पश्चाताप के आँसुओं से इस संसार-बन्धन में डालनेवाली माया के कीचड़ को धो डालता है, तब वह तेजी से ईश्वर की ओर खिंचता चला जाता है।

– *श्रीरामकृष्ण*

बुद्धशिष्या सुमागधा

सच्चिदानन्द धर

धर्म-विषयक सहज प्रवृत्ति पुरुषों की अपेक्षा नारियों में ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। किसी नये धर्ममत को अपनाने में पुरुष की अपेक्षा नारी ही अधिक आग्रहशील दिखाई देती है। बौद्ध तथा ईसाई धर्मों में ऐसे अनेक दृष्टान्त दीख पड़ते हैं। सम्भव है कि परिवार के स्वामी किसी विशेष धर्ममत में विश्वास नहीं करते या फिर उस धर्म के प्रति सक्रिय विद्वेष का पोषण करते हों। कभी-कभी ऐसे ही विरोधी परिवार में देखने में आता है कि उस परिवार की स्वामिनी या पुत्री ने गोपनीय रूप से उस नये धर्ममत को अंगीकार कर लिया है और बाद में क्रमश: पूरे परिवार को उसी मत में दीक्षित कर डाला है। कभी-कभी ऐसा भी देखने में आया है कि कोई नवीन धर्मावलम्बी कन्या से विवाहित होने के बाद उसके पति तथा अन्य परिजनों ने भी उस कन्या के धर्म-विश्वास को अपना लिया है। इसी प्रकार अन्त:पुर की धर्मप्राण नारी की सहायता से कई धर्मों का प्रचार-प्रसार होता आया है।

सुमागधा-अवदान ग्रन्थ के मतानुसार बंगाल में सुमागधा के माध्यम से ही सर्वप्रथम बौद्ध-धर्म तथा बुद्ध-उपासना का श्रीगणेश हुआ। सुमागधा-अवदान की कथा इस प्रकार है –

भगवान बुद्ध जेतवन में अनाथपिण्डद के रम्य उद्यान में अपने शिष्यों के साथ निवास करते हुए अपनी अमृतमयी वाणी का प्रचार कर रहे थे। सुमागधा उन्हीं की पुत्री थी। वह उन दिनों अपनी सखियों के साथ बुद्धदेव की सेवा में लगी रहती थी। क्रमश: सुमागधा ने यौवन में पदार्पण किया। उसके रूप तथा गुणों की कथा देश-देशान्तर में फैल गयी।

उन दिनों पुण्ड्रवर्धन नगर में एक विख्यात धनाढ्य व्यक्ति निवास करते थे। उनके एक सर्वगुण-सम्पन्न नवयुवक पुत्र था। उसका नाम था विष्णुदत्त। विष्णुदत्त तथा उसके पिता नग्नतीर्थिक संन्यासियों के उपासक थे। नग्न भिक्षुगण प्राय: ही उनके घर आकर भोजन तथा पूजन स्वीकार करते। विष्णुदत्त इन नग्न संन्यासियों के मुख से अनाथपिण्डद की कन्या सुमागधा के अतुलित रूप-यौवन तथा गुणों के बारे में सुन-सुनकर उनके प्रति आकृष्ट हुए। विष्णुदत्त एक बार नग्न संन्यासियों के छद्मवेश में उन्हीं लोगों के साथ भिक्षा के लिये अनाथपिण्डद के अन्त:पुर में जाकर अपनी स्वयं की आँखों से सुमागधा को देखा। अन्य नग्न संन्यासियों को भिक्षा प्रदान करने के बाद सुमागधा जब विष्णुदत्त के निकट पहुँची, तो वह विशेष लज्जा का बोध करने लगी।

पुण्ड्रवर्धन लौटकर विष्णुदत्त ने अपने पिता को सुमागधा का सारा वृत्तान्त सुनाया। विष्णुदत्त के पिता जब अनाथपिण्डद के पास इस विवाह का प्रस्ताव भेजा, तो अनाथपिण्डद ने बुद्धदेव के पास जाकर इसके लिये उनकी अनुमति माँगी। बुद्धदेव आनन्दपूर्वक इस प्रस्ताव का समर्थन करते हुए बोले, "सुमागधा के पुण्ड्रवर्धन जाने से अच्छा ही होगा। वह उस देश के बुद्ध के उपासकों की सेवा और बुद्ध की उपासना करने में समर्थ होगी।" तब अनाथपिण्डद ने अपने सभी सगे-सम्बन्धियों को निमंत्रित करके उनकी अनुमति लेकर बड़े समारोह के साथ सुमागधा को पुण्ड्रवर्धन भेज दिया।

कुछ काल बाद एक दिन सुमागधा की सास ने उसे बुला कर कहा, "कल हमारे घर में माननीय संन्यासीगण की पूजा की व्यवस्था करनी होगी। तुम निमंत्रित संन्यासियों की सेवा के लिये तैयार रहना।" साधुसेवा की बात सुनकर सुमागधा बड़ी प्रफुल्लित हुई, क्योंकि वह अपने मायके में भगवान बुद्ध, सारिपुत्त तथा आनन्द आदि भिक्षुओं की सेवा करके तृप्तिलाभ कर चुकी थी। उसे लगा कि अगले दिन वैसे ही सौम्य-दर्शन तथा तपस्या से तेजोदीप्त साधुगण सेवा पाने के लिये उपस्थित होंगे। परन्तु निमंत्रित भिक्षुओं की सेवा हेतु जाकर सुमागधा ने देखा 'वन्य भैंसों के समान जटाधारी तथा कबूतर के बच्चों जैसे भीषण दिखनेवाले नग्न' भिक्षुगण पूजा ग्रहण करने आये हुए हैं। यह देखकर सुमागधा अत्यन्त खिन्न तथा लज्जित होकर घर के एक कोने में बैठी रही। सुमागधा को खिन्न देखकर उसकी सास ने जब इसका कारण पूछा, तो वह बोली, "यदि आप लोग ऐसे ही भिक्षुओं को पूजनीय मानते हैं, तो क्या इस पृथ्वी पर कोई भी अपूजनीय हो सकता है?" उसकी सास ने पूछा, "बेटी, क्या तुम इनसे भी अधिक माननीय, पूज्य तथा गुणशाली किसी व्यक्ति को जानती हो?" सुमागधा बोली, "हाँ, मेरे पिता के जेतवन के प्रमोद-उद्यान में बुद्ध नामक सर्वजन-पूजित, स्वर्णिम कान्तिवाले सर्वज्ञ, पवित्रता की प्रतिमूर्ति एक देवमानव रहते हैं।"

– "क्या तुम कल ही हमें उनका दर्शन करा सकोगी?"

– "अवश्य ! उनके योग्य पूजन-सामग्री एकत्र कीजिये। कल ही मैं आप लोगों को बुद्ध भगवान का दर्शन कराऊँगी।"

इसके बाद सुमागधा अपनी अंजलि में बुद्धदेव के नाम पर पुष्प-गन्ध-माला-धूप आदि लिये अपने भवन की छत पर जाकर श्रावस्ती की ओर उन्मुख होकर खड़ी हो गयी और भक्तिपूर्वक प्रार्थना करने लगी, "हे महा-करुणा-सम्पन्न भगवन्, मैं इस पिछड़े अंचल में त्रिरत्नवर्जित* होकर असहाय वन्य हरिणी जैसी निवास कर रही हूँ। मेरे प्रति कृपापूर्वक अपने

* त्रिरत्न – बुद्ध, धर्म तथा संघ।

शिष्यों तथा संघ के साथ यहाँ आकर मुझे कृतार्थ करें।'' यह कहने के बाद सुमागधा ने जल के साथ उस पुष्पांजलि को बुद्धदेव के निमित्त आकाश की ओर फेंक दिया।

उस समय भगवान बुद्ध जेतवन में अपने शिष्यों के साथ धर्मचर्चा में लगे हुए थे। सुमागधा द्वारा अर्पित वह पुष्पांजलि आकाश-मार्ग से मण्डलाकार में मेघ के समान उड़ते हुए जेतवन में बुद्धदेव के पास आ पहुँची। उसे देखकर आनन्द ने भगवान से पूछा, 'भगवन्, यह निमंत्रण कहाँ से आया?''

भगवान बोले, ''यह एक सौ तिरसठ योजन दूर स्थित पुण्ड्रवर्धन नगर से आया है। उपासिका सुमागधा ने हम लोगों का स्मरण किया है। हे आनन्द, उस नगर में तीर्थिक नग्न संन्यासियों का बाहुल्य है। अत: तुम उन सिद्ध तथा अलौकिक शक्ति-सम्पन्न भिक्षुओं को निमंत्रण-पत्र प्रदान करो, जो अलौकिक शक्ति के द्वारा आकाश-मार्ग से उड़कर कल सुबह ही पुण्ड्रवर्धन नगर में पहुँच सकें।''

आनन्द एक-एक को निमंत्रण-पत्र वितरित करने लगे। उनमें पूर्ण नाम के एक अति वृद्ध तथा दुर्बलकाय भिक्षु भी थे। आनन्द ने सोचा कि ये जराजीर्ण व्यक्ति अवश्य अपनी अलौकिक सिद्धि प्रदर्शित नहीं कर सकेंगे। यह सोचकर वे पूर्ण को निमंत्रण-पत्र दिये बिना ही आगे बढ़ गये। आनन्द के कुछ दूर चले जाने के बाद पूर्ण ने अपने हाथ को अलौकिक शक्ति के बल से काफी दूर तक फैलाया और उनसे निमंत्रण-पत्र के लिये अनुरोध किया। यह देख आनन्द समझ गये कि ये वृद्ध होने के बावजूद अलौकिक शक्ति में किसी से कम नहीं हैं। आनन्द ने उन्हें भी निमंत्रण-पत्र प्रदान किया। अन्त में उन्होंने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा, ''हे भिक्षुगण, पुण्ड्रवर्धन में नग्न-तीर्थिकों का काफी प्रभाव है। आप लोगों को अपनी शक्ति के बल पर उन्हें परास्त करना होगा। अतएव आप लोग अपनी सिद्धियों को पूर्ण रूप से प्रकट करके आकाश-मार्ग से पुण्ड्रवर्धन की ओर प्रस्थान करें।''

अगले दिन प्रात:काल प्रत्येक भिक्षु अपनी-अपनी सिद्धियों को प्रकट करके तीनों लोकों के प्राणियों के चित्त में विस्मय उत्पन्न करते हुए आकाश-मार्ग पकड़कर श्रावस्ती से पुण्ड्रवर्धन की ओर रवाना हुए। अपनी सिद्धि के द्वारा कोई भिक्षु स्वर्ण के रथ पर सवार होकर, कोई हंस के रथ पर आरूढ़ होकर, कोई वर्षा तथा विद्युत् उत्पन्न करते हुए, कोई पर्वत तथा उपवन के साथ, कोई सिंह के रथ पर चढ़कर और कोई ऐरावत के समान हाथी पर आरोहण करके गगन-मार्ग से पुण्ड्रवर्धन की ओर अग्रसर होने लगे। भिक्षुओं के गमन के समय तीनों लोक अपूर्व विद्युत्-छटा, मधुर दैवी वाद्यों तथा सुरभित पारिजात के सुगन्ध से ओतप्रोत हो गये। देव, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर – सभी अत्यन्त विस्मयपूर्वक इस अद्भुत दृश्य का अवलोकन करने लगे। क्रमश: कौण्डिन्य, काश्यप, सारिपुत्त, मौद्गल्यायन, अनिरुद्ध, पूर्ण, अश्मजित्, उपाली, महाकात्यायन, महा-कौष्ठिल, पिलन्दव, कर्ण, राहुल आदि भिक्षुगण अपनी-अपनी सिद्धि का प्रदर्शन करते हुए पुण्ड्रवर्धन में आकर एकत्र होने लगे। प्रत्येक भिक्षु की अलौकिक शक्ति को देखकर सुमागधा की ससुराल के लोग पूछने लगे, ''हे सुमागधे, ये ही क्या तुम्हारे प्रभु – शास्ता भगवान बुद्ध हैं?'' सुमागधा हल्की सी हँसी के साथ कहने लगी, ''नहीं, ये अमुक नामवाले भिक्षु हैं। ये भगवान बुद्ध नहीं हैं। भगवान बुद्ध तो और भी अधिक शक्तिसम्पन्न हैं, और भी अधिक सौम्य, तेजस्वी तथा सुदर्शन हैं।''

क्रमश: अपनी-अपनी सिद्धि का प्रदर्शन करनेवाले अनेक भिक्षु पुण्ड्रवर्धन आ पहुँचे। वहाँ हजारों लोग एकत्र होकर इस अपूर्व तथा अलौकिक दृश्य को देखने लगे। सबके अन्त में दैवी वाद्यों के साथ इन्द्र-ब्रह्मा आदि देवताओं द्वारा सेवित भगवान बुद्ध भी पुण्ड्रवर्धन आ पहुँचे। पुण्ड्रवर्धन नगर के अट्ठारह द्वार थे। बुद्धदेव ने अपनी अलौकिक शक्ति से स्वयं को अट्ठारह रूपों में विभक्त किया और एक साथ ही सभी द्वारों से नगर में प्रविष्ट हुए। सबने यही सोचा कि बुद्धदेव केवल उसी के देखे हुए द्वार से प्रविष्ट हुए हैं। बुद्धदेव ने क्रमश: सुमागधा के घर में प्रवेश किया। उस समय बाहर के लोग बुद्धदेव के रूप को देख न पाकर उन्मत्त हो उठे। बुद्धदेव ने समवेत लोगों के प्रति कृपा-परवश होकर अपने रूप को असंख्य स्फटिक मूर्तियों में रूपान्तरित किया। नगर के प्रत्येक व्यक्ति ने उन्हें अपने घर में प्रतिष्ठित देखा और पुष्प, गन्ध, धूप, दीप, आदि के द्वारा उनका पूजन करके स्वयं को धन्य तथा कृतार्थ अनुभव किया। नग्न-तीर्थिकों के साथ ही पुण्ड्रवर्धन के समस्त नर-नारियों ने बुद्ध की उपासना करके उनके धर्म तथा संघ में आश्रय ग्रहण किया। इस प्रकार सुमागधा की तपस्या के प्रभाव से समग्र पुण्ड्रवर्धन-वासी बुद्ध का दर्शन पाकर कृतकृत्य हुए। उन लोगों ने भ्रान्त मार्ग को त्यागकर बुद्धदेव के सत्य-धर्म का आश्रय लिया और अन्त में सभी ने निर्वाण की उपलब्धि की।

पिछले जन्म में सुमागधा वाराणसी-नरेश महाराज कृकी की पुत्री थीं। तब उनका नाम कांचनमाला था। उन्होंने पिछले अनेक जन्मों में पुण्य किये और पहले के बुद्धों की उपासना करके इस अन्तिम जन्म में गौतम बुद्ध से निर्वाण-दीक्षा प्राप्त किया। उनके पुण्यों के फल से उनका परिवार तथा पूरा देश बुद्ध की कृपा से धन्य हो गया। बौद्ध अवदान तथा जातक ग्रन्थों में ऐसी अनेक पुण्यवती नारियों की कथा वर्णित है। ऐसी बात नहीं कि केवल थेरियों ने ही संन्यास लेकर निर्वाण प्राप्त किया हो, अनेक धर्मशील गृहिणियों ने भी बुद्ध की उपासना तथा संघ की सेवा करके निर्वाण पाया था। ❑ ❑ ❑

(उद्बोधन, श्रीमाँ शताब्दी विशेषांक, बैशाख १३६१ बं.)

माँ सारदामणि के चरणों में

स्वामी निर्लेपानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

अहा, उद्‌बोधन-भवन में मेरे कैसे आनन्द के दिन बीते हैं! पूजागृह में माँ हैं – कोई गेरुआ वस्त्र नहीं, गले में रुद्राक्ष नहीं, सर्वत्र दृष्टिगोचर होनेवाली बंगाली विधवा के समान ललाट पर चन्दन से अंकित कोई चिह्न नहीं। शरीर पर काली या कृष्ण नाम की नामावली की चादर नहीं। हाथों में दो कंगन, पहनावे में पतले किनारे की साड़ी। बिल्कुल सीधी-सादी, मानो बाँकुड़ा जिले के किसी घर की बहू हों। शरीर के बाहर रंचमात्र भी रूप की कोई विशेष अभिव्यक्ति नहीं थी। माँ श्यामा। सारे वर्ष प्रतिदिन भोर में तीन से चार बजे के बीच उठ जातीं। प्रात:कृत्य समाप्त करने के बाद ठाकुर को शयन से उठाना और बालभोग देना। प्रतिदिन अपने हाथों से पूजाघर पोंछना, ठाकुर को अन्नभोग देना, सुबह-शाम जप करना आदि सारी बातें एक-एक कर याद आ रही है। तो भी आखिरी के दिनों में उद्‌बोधन में रहने वाले उनके सेवक तथा सेविकायें उन्हें कई काम नहीं करने देते थे। तब माँ की आयु भी अधिक हो गयी थी और अस्वस्थता के कारण शारीरिक क्षमता भी घट गयी थी। तो भी मैंने देखा है कि वे कलकत्ते में भी अन्तत: पूजागृह के सारे कार्य अपने हाथों से करने के लिए व्यग्र रहतीं। गाँव में माँ को कलकत्ते की तरह शरत् महाराज की निगरानी में नहीं रहना पड़ता था। वहाँ वे मायके की बेटी, गाँव की बालिका थीं। वहाँ वे अपने हाथों से सब्जी काटती, मसाला पीसतीं, दूध लाकर अपने शिष्यों को चाय तक पिलाती थीं। कहना न होगा कि इस ग्राम्य बाला को कलकत्ते की कृत्रिमता के बीच थोड़ी-बहुत असुविधा तो अवश्य ही होगी। उन दिनों उद्‌बोधन कार्यालय के सामने का भाग, आज की तुलना में आधा ही था। मानो किसी पक्षी का पिंजरा हो। चिक से घिरा हुआ छोटा-सा बरामदा था, हवा-रोशनी कम ही आती। वह जयरामबाटी की तरह खुला और उन्मुक्त नहीं था। घर में ठसाठस भरे हुए लोग। दूसरी तथा तीसरी मंजिलों पर पुरुषों का जाना एक तरह से निषिद्ध ही था। 'उद्‌बोधन'-सम्पादक नीचे के कमरे में सम्पादन का कार्य करते। उन दिनों सामने खुला मैदान था। रविवार को मैदान लोगों से भर जाता। दोनों बरामदों में भीड़, मकान में लोगों का ताँता लगा रहता और खूब चहल-पहल रहती। ऊपर महिलाएँ रहती थीं। मैंने रविवार की शाम को ७०-८० लोगों को हाथों में मिठाई-प्रसाद दिया है। किसी-किसी दिन माँ ने अलग-अलग २५-३० तक लोगों को एकान्त में दीक्षा दिया है। कलकत्ते में माँ अपने हाथों से काम करना चाहते हुए भी शरत् महाराज, गोलाप-माँ तथा योगीन-माँ के भय से ज्यादा-कुछ करने का साहस नहीं करती थीं। उम्र में वे गोलाप-माँ तथा योगीन-माँ से छोटी थीं। लगता गोलाप-माँ और योगीन-माँ मानो सास हों और 'माँ' उनकी आज्ञाकारी बहू हों। वे गंगाविहीन प्रदेश की निवासिनी थीं और उद्‌बोधन-भवन की छत से गंगा तथा दक्षिणेश्वर की माँ का मन्दिर दिखाई पड़ता था। कलकत्ते के प्रति उनके आकर्षण का कारण यह था कि स्वस्थ रहने पर गठिया का अधिक कष्ट न रहने पर वे प्रतिदिन गंगास्नान कर सकती थीं। माँ के देहत्याग के बाद एक दिन सारदानन्द जी ने कहा था, "मेरी साध मिट गयी है। उधार लेकर उद्‌बोधन बनवाया था। खड़ के व्यवसायी केदार बाबू ने जमीन दान किया था। उधार चुकाना हो गया। माँ ने इतने दिन तक – बीच-बीच में, कभी अधिक दिनों के लिये, तो कभी थोड़े दिनों के लिये इसमें निवास किया है।" माँ के दिनों में उद्‌बोधन में बिजली का प्रकाश नहीं था। मिट्टी के तेल से दिया-बत्ती होती थी। माँ में सुन्दर ज्योतिर्मय दिव्य अध्यात्म-जीवन का आलोक तो था ही; साथ में यदि बिजली रहती, तो सोने में सुहागा हो जाता।

पूजा समाप्त कर लेने के बाद या जब कभी कोई दूसरा करता, तो पूजा समाप्त होने के बाद एक बालक* को नीचे जाकर वहाँ उपस्थित भक्तों की संख्या गिन आने को कहतीं। ठाकुर को संध्या का भोग देने के बाद वे प्रसाद की मिठाई, फल-मूल आदि सजा कर रख देतीं। बालक एक काले बड़े लकड़ी के ट्रे में वह सब रखकर वितरण करता। अन्त में बता देतीं कि यह मोहन के लड़के को देना। वह माँ के पुराने

* वह बालक लेखक स्वयं थे। पूर्व के सम्बन्ध से वे योगीन-माँ के नाती – उनकी इकलौती पुत्री गनू के छोटे पुत्र थे। – सम्पादक

सेवक मोहिनी मोहन का इकलौता बच्चा था। इतनी भीड़ के बीच देखता, माँ किसी भी दिन उस बच्चे को नहीं भूलती। माँ की दृष्टि हर तरफ रहती। एक दिन माँ ने प्रसाद-वितरण करनेवाले इस बालक का ही धुला कपड़ा खोलकर उसमें कुछ आम बाँधकर देते हुए बच्ची के समान बोलीं, ''जा बेटा, झट से नीचे उतरकर घर चला जा। सावधान, गोलाप-माँ न देखने पायें, नहीं तो मुझे डाँटेगी।'' उन दिनों वह बालक प्रति रविवार को अपने कलकत्ते के घर से उद्बोधन आया करता था। उसका परिवार निर्धन था। अच्छा खाने-पीने की आस में वह माँ के पास आया करता था। इसके अतिरिक्त वह लड़का मातृ-पितृ-हीन भी था। माँ की उसके प्रति कैसी करुणा थी ! फिर सब कुछ की स्वामिनी होकर भी वे गोलाप-माँ से कैसा मधुर भय करती थीं !

एक अन्य दिन ! वृद्धा नौकरानी कहने लगी, ''माँ कत्थे के अभाव में पान नहीं खा पाती। गोलाप-माँ बड़ी कठोर हैं, अधिक नहीं देतीं।'' माँ ने उसे तत्काल ढेर-सारा कत्था देते हुए कहा, ''जल्दी भाग जा बेटी, लगता है गोलाप आ रही है। मुझे अभी डाँटेगी।'' सब कुछ उन्हीं का है, तो भी गोलाप-माँ का यह मधुर भय ! माँ किसी को कम नहीं दे पाती थीं। हाथ भरकर फल, मिठाई, मोहनभोग आदि प्रसाद देती थीं। कहतीं, ''कुछ खाकर जप, ध्यान, पूजा में लगो।'' उनके मतानुसार यही ठीक-ठीक शिवव्रत था, ''मन को, आत्मा को भूखा नहीं रखना चाहिये। इससे आत्मा कष्ट पाती है। इससे पुण्य नहीं होता, बल्कि हानि ही होती है।'' वस्तुत: माँ केवल दयावती ही नहीं, अपितु ब्रह्मवती भी थीं। दया उनकी एक सात्त्विक अभिव्यक्ति थी। माँ का जन्म लक्ष्मीवार को हुआ था और लक्ष्मी का भण्डार उन्हीं का था। उनके अन्तिम दिनों में देखा है, उद्बोधन में असंख्य चीजें आ रही हैं। आम के समय में अगणित मात्रा में लंगड़ा, हिमसागर, फजली, यहाँ तक कि महँगे अलफांसों भी आ रहे हैं। सभी पेट भर कर खाते। उनकी उधर जरा भी दृष्टि नहीं थी। अपनी वस्तु है – उन्हें ऐसा कोई बोध ही न था। दो हाथों को दस हाथ में परिणत करके वे केवल – दीयताम्, दीयताम्, दीयताम् – करती रहती थीं।

उन दिनों नया-नया बना हुआ माँ का वह छोटा-सा मकान मानो गंगाजी के तट पर ही था। बिल्कुल मुख्य सड़क पर नहीं था, ट्राम की धड़धड़ाहट नहीं, परन्तु घोड़ागाड़ी, बाजार, घाट, डाकघर – सब कुछ समीप ही थे। मकान गली के आवरण में संरक्षित – थोड़ा घिरा और ढँका हुआ था। अब तो उस मुहल्ले के चारों ओर बनी हुई चौड़ी-चौड़ी सड़कों को देखकर पुराने परिवेश की कल्पना तक नहीं की जा सकती। यह सब नि:सन्देह अच्छा हुआ है। माँ के मन में बचपन से ही गंगा के प्रति विशेष आर्कषण था। माँ की अन्तिम लीला भी गंगा के किनारे ही हुई। उन दिनों उद्बोधन में कैसा आनन्द-ही-आनन्द का परिवेश था – शान्ति, स्वस्ति और साम्य नृत्य किया करती थीं। भक्ति, मुक्ति और परम प्रीति नृत्य किया करती थीं। माँ-लक्ष्मी का भण्डार खुला रहता था। 'दीयताम् भुज्यताम्' – के रूप में माँ का अन्नदान – प्रसाददान चलता रहता था। उद्बोधन माँ की अन्त्य-लीला की पीठभूमि है, सम्पूर्ण विश्व के लिये एक तीर्थ है।

एक दिन की घटना है। १९१६ ई. के गर्मी के दिनों की बात है। में एक दिन शाम को ठाकुर के मन्दिर के द्वार खोल दिये गये थे। माँ अपने दोनों पैर फैलाये चित्रलिखित-सी उत्तरी सँकरे बरामदे में बैठी हैं। उनकी उँगलियाँ जपमाला की थैली के भीतर हैं। दृष्टि अन्तर्मुखी है। सामने मठ की तरफ देख रही हैं। बाह्यदृष्टि नाम मात्र की है। अन्तर में मानो कुछ देख रही हैं। बाहर कुछ भी बोध नहीं है। उस दिन गुरुवार – माँ का जन्मदिन था। निचली मंजिल में स्थित कार्यालय में आश्रम के व्यवस्थापक ने मुझे आदेश दिया, ''अरे, अभी अमेरिका के स्वामी बोधानन्द को पत्र लिखना होगा। आज मेल-डे है। देरी करने से काम नहीं चलेगा। बड़ा जरूरी काम है। यह उनके आश्रम का फोटो है। उन्होंने भेजा है। माँ को दिखाना होगा और देखकर माँ ने क्या कहा, यह लिखना होगा। मैं तीन बार माँ के पास गया, परन्तु उनसे कुछ भी कहने का साहस नहीं हुआ। प्रयास व्यर्थ हुआ। मैं लौटकर बोला, ''मुझसे नहीं होगा। वे अन्तर्मुख होकर बैठी हैं, मुझे कुछ कहने का साहस नहीं होता। किसी अन्य को भेज दीजिए।'' परन्तु वे भला कहाँ छोड़नेवाले थे, ''अरे, तेरे द्वारा ही होगा।'' आखिरकार बाध्य होकर मैंने जाकर धीरे-धीरे कहा, ''माँ, अमेरिका से हरिपद महाराज ने यह चित्र भेजा है। देखकर आपने क्या कहा, यह उन्हें बताना होगा। डाक चली जायेगी, जल्दी-जल्दी पत्र लिखना होगा।'' माँ ने सुना। माँ के चेहरे का भाव देखा – कष्ट का उदय हुआ, मानो कोई उन्हें बलपूर्वक भीतर से बाहर की ओर खींच लाया हो। परन्तु वे तत्काल सँभल गयीं, कोई नाराजगी नहीं दिखाया और न तिरस्कार ही किया। यद्यपि मैं उनके सामने खड़े होकर चित्र पकड़े हुए था, परन्तु चित्र को बिल्कुल देखे बिना ही वे बोलीं, ''लिख दो, अच्छा हुआ है।'' उस समय मैं भला कहाँ समझता था कि माँ की विज्ञानी की अवस्था है ! खुली आँखों से भी दिव्य-दर्शन !

❖ **(क्रमशः)** ❖

✪ ✪

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (५)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

४. अहंकार ही माया है (परिच्छेद १)

ठाकुर के मानसपुत्र श्री महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द), महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) और स्वामी प्रेमानन्द – तीनों आजकल मठ में निवास कर रहे हैं। मानो श्रीरामकृष्ण स्वयं ही इस त्रिमूर्ति का रूप धारण करके विराजमान हैं। श्रीरामकृष्ण पूज्यपाद स्वामी ब्रह्मानन्द को 'व्रज का राखाल' और बाबूराम महाराज को 'सखी' कहते थे। ठाकुर जिन छह लोगों का नित्यसिद्ध 'ईश्वरकोटि' अन्तरंग कहकर उल्लेख करते थे, राखाल महाराज तथा बाबूराम महाराज भी उन्हीं में आते हैं। राखाल महाराज की पूर्ण ज्ञानी की – परमहंस अवस्था है; भक्तकुल-चूड़ामणि बाबूराम महाराज मूर्तिमान भक्ति हैं और त्यागीकुल-विभूषण महापुरुष महाराज महातपस्वी हैं।

तीन महापुरुषों के एकत्र आविर्भाव से मठ में रात-दिन आनन्द का मेला लगा रहता है। निरन्तर अनन्त आनन्द छाया रहता है। सूर्योदय के पूर्व ही श्री ब्रह्मानन्द स्वामीजी के कमरे में पवित्र बाल-ब्रह्मचारी साधु-भक्तों द्वारा ताल-लय के साथ सुमधुर कीर्तन हो रहा है – (भावार्थ) –

वह देखो चिर आनन्द-धाम।
भवसागर के उस पार खड़ा,
अनुपम शोभित चिर ज्योतिर्मय ।।

हे शोक-ताप से पीड़ित जन,
आओ कर लो निज दुखमोचन,
होगा अन्तर में प्रेम प्रगट,
औ शान्तिपूर्ण होगा तन-मन ।।

कितने योगी, ऋषि-मुनि अगणित,
कर रहे ध्यान किसका अविरत,
विस्मृत जग को कर स्तिमित नयन,
करते हैं पान सतत अमृत ।।

सुरगण करते हैं मधुर गान,
करते हैं विमल ईश-वन्दन,
शत कोटि चन्द्र-तारे हुलसित,
करते रहते प्रति पल नर्तन ।।

भजन सुनते-सुनते भक्तों के मन में सचमुच ही मानो भवजलधि के पार का चित्र सजीव हो उठा है और वह उन्हें सहजसाध्य प्रतीत होने लगा है। गीता में भगवान कहते हैं –

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।। ९/१४

– 'जो भक्त अनन्य चित्त के साथ सर्वदा मेरा स्मरण किया करता है, मैं उसी नित्ययुक्त योगी के लिए प्राप्य हूँ।'

प्रसाद ग्रहण करने के पूर्व तक और अपराह्न में भी महाराजगण के उपदेश सुनने को मिलते हैं। सन्ध्या-आरती तथा ध्यान के बाद फिर वैसे ही सुमधुर भजन और विशेषकर बाबूराम महाराज की दिव्य भावों से युक्त वाणी सुनने को मिलती है और इसी प्रकार दिन-रात आनन्द में बीतते हैं।

विशेषकर छुट्टियों के दिन साधुसंग रूपी शीतल गंगा में स्नान करने के लिये कलकत्ते से आजकल दल-के-दल भक्त बेलूड़ मठ आते हैं।

रविवार, १२ दिसम्बर, १९१५ ई. का दिन। आज दफ्तरों में छुट्टी है। डॉक्टर कांजीलाल, कृष्ण बाबू, कालीपद बाबू आदि अनेक भक्त आये हुए हैं। बरुईपुर के वृद्ध वकील केदार बाबू भी इधर कई दिनों से मठ में ही निवास कर रहे हैं।

डॉ. कांजीलाल ठाकुर के परम भक्त, उच्च कोटि के गुप्त साधक और श्रीमाँ के विशेष कृपापात्र हैं। आज की रात वे मठ में ही बितायेंगे। कृष्ण बाबू ठाकुर के शिष्य महात्मा देवेन्द्रनाथ मजुमदार के अनुरागी भक्त हैं। प्राय: ही मठ में आते रहते हैं। कलकत्ते के एण्टाली अंचल में उनका निवास है। उनका कण्ठ बड़ा मधुर है। ये मठ में आकर भजन सुना जाते हैं और आज वे मठ में ही रात बिताने वाले हैं।

जाड़े के छोटे दिन हैं। मठ में ठाकुर की संध्या-आरती समाप्त हुई। जप-ध्यान के उपरान्त साधु-ब्रह्मचारी तथा भक्तगण क्रमशः आकर विश्राम-कक्ष में एकत्र हुए। कमरे में दरी बिछी हुई है, उसी पर आकर एक किनारे बाबूराम महाराज भी आसीन हुए। रात के करीब आठ बजे हैं।

बाबूराम महाराज (सामने उपस्थित ब्रह्मचारियों की ओर संकेत करते हुए) – ''इन्हें सभी विषयों की शिक्षा प्राप्त करनी होगी – सब्जी काटना, भोजन पकाना, मन्दिर के कार्य, पूजा, हिसाब-किताब रखना, व्याख्यान देना आदि सभी कार्यों में दक्ष होने की आवश्यकता है। यहाँ पर इन लोगों से मैं वैसा ही करा रहा हूँ और इसके लिए कितना ही भला-बुरा कहता हूँ। परन्तु सब इन्हीं की भलाई के लिए है। मेरे मन में किसी के प्रति जरा-सा क्रोध नहीं है। इन्हें मैं कितना स्नेह करता हूँ। (ब्रह्मचारियों के प्रति) तुम लोगों को

इतना डाँटता-फटकारता हूँ, इस पर बुरा मत मानना !

(अपने विषय में) – "विवाह करने से और क्या होता, दो-चार बाल-बच्चे हो जाते। उनमें से कोई भक्त होता और सम्भव है कोई दुष्ट निकलता। बोलो तो, उससे कितना कष्ट होता ! परन्तु यहाँ देखो, सभी भक्तों से मैं पुत्रवत् स्नेह करता हूँ। वैसे तो दो-एक अपने ही लोगों के साथ लगाव रहता है, परन्तु यहाँ तो देश भर के लोगों से प्रेम करता हूँ। एक को देखा – भतीजे के प्रति उसका बड़ा द्वेषभाव है, फिर भी अपने बच्चे से बहुत प्रेम करता है। मुझे तो इस पर बहुत गुस्सा आया, परन्तु साधु हो गया हूँ इसीलिए कुछ कहा नहीं।

"गृहस्थों में इसी प्रकार की संकीर्णता रहती है। सब 'मेरा-मेरा' करते हुए प्राण देते हैं। 'मेरा घर', 'मेरा कमरा', 'मेरा लड़का' – तो भी आँखें मूँदते ही कौन कहाँ रह जाता है, कुछ पता नहीं। गृहस्थ लोगों का सब ठीक है, वे लोग केवल मन-मुख को एक करके भीतर से यदि 'मैं'-'मेरा' को छोड़कर 'तू'-'तेरा' का अभ्यास करें, तो वे अनासक्त हो जायेंगे, सिद्ध हो जायेंगे। 'आत्मात्मीय-ग्रह-भ्रान्ति-शान्ति-मात्रा-विमुक्तता' – 'मैं'-'मेरा' रूपी भ्रान्ति से ही मुक्ति प्राप्त करनी है।

"प्रभो, मकान तुम्हारा है, कमरा तुम्हारा है, बाल-बच्चे तुम्हारे हैं, इतना ही नहीं यह देह तक तुम्हारा है। 'नाहं, नाहं, नाहं, तूहू, तूहू, तूहू।' 'मैं गुलाम, मैं गुलाम, मैं गुलाम तेरा।' ठाकुर कहा करते थे, 'मैं मरा कि छूटा जंजाल।' यह अहं ही सारे अनर्थों का मूल है। इस दुष्ट अहं का ही नाश करना होगा, मार डालना होगा। ऐसा न करके, हम इस अहं-सर्प को दूध-केले खिलाकर पाल रहे हैं, इसीलिए तो इसके दंश से छटपटाना पड़ रहा है, तो भी उसे सीने से चिपकाये हुए हैं। इसे त्याग करने में मोह लगता है। ऐसा है अज्ञान ! गीता कहती है – 'जो भी करते हो, जो भी खाते हो, जो भी यज्ञ-दान तथा तप करते हो, हे अर्जुन, यह सब मुझे समर्पण के भाव से करो –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ।। ९/२७

"इसी भाव को पुष्ट करना होगा, तभी संसार-बन्धन से मुक्त होना सम्भव है। 'सब सौंपकर एकचित्त से निश्चित रूप से मैं तुम्हारी दासी हो गयी हूँ' – यही आत्म-समर्पण का भाव ठीक-ठीक अपने भीतर लाना होगा।"

कमरा लोगों से भरा हुआ है। सभी निस्तब्ध हैं, शान्त हैं। मानो सभी ध्यानस्थ हों, एक आलपीन भी गिरे तो उसकी ध्वनि सुनाई देगी। उन्होंने सबके मन को तीन-चार सीढ़ी ऊपर उठा दिया है। डॉ. कांजीलाल इस निस्तब्धता को भंग करते हुए बोले, "अमुक ने पूर्वी बंगाल में बहुत-से बड़े-बड़े लोगों को शिष्य बनाया है। वहाँ ऐसे भी बड़े लोग हैं, जो आप लोगों के विषय में कुछ भी नहीं जानते, यहाँ तक कि उन्होंने कुछ सुना तक नहीं है।"

बाबूराम महाराज – "ठाकुर कहा करते थे कि जगत् में जो कोई जो कुछ भी कर रहा है, वह अच्छे के लिए ही कर रहा है। ठाकुर ने हम लोगों को धन नहीं दिया है और हम भी कभी उसमें भूले नहीं। धन पाकर ही तो आदमी भगवान को भूल जाता है और धन ही अनिष्ट भी करता है। देखो न, बड़े-बड़े मठों के कितने ही महन्तों के पास कितना धन है ! छी ! छी ! ठाकुर हम लोगों को वह सब नहीं देंगे। सेवाश्रम के लिए कितने ही लोग जमीन, रुपये आदि दे रहे हैं, परन्तु मठ को भला कितने लोग देते हैं?"

(एण्टाली के कृष्ण बाबू के प्रति) "वह व्यक्ति वाराणसी के सेवाश्रम को कितने रुपये दे गया और हम लोगों से बोला कि मठ के लिए सौ रुपये महीने का वसीयत कर दिया है। बाद में पता चला कि वे रुपये भी उसने सेवाश्रम के ही नाम कर दिये हैं। यह सब ठाकुर की दया है। धन रहने पर अभिमान होता है, अहंकार होता है, गोला-बारूद होता है, इस युद्ध को ही देखो न !" (उन दिनों यूरोप में भयंकर विश्वयुद्ध चल रहा था।)

"अमुक व्यक्ति बड़े बड़े लोगों को शिष्य बनाते हैं, पर हम लोग बड़े-वड़े आदमियों की परवाह नहीं करते। हम तो युवकों को शिष्य बनाना चाहते हैं। द्रढ़िष्ठ, बलिष्ठ और मेधावी युवक चाहिये। ये लोग पवित्रता के अग्निमंत्र में दीक्षित होकर पूरे विश्व में ठाकुर के पवित्र भाव के प्रचार का व्रत ग्रहण करेंगे। दाम्भिक, नास्तिक बड़े लोग भी क्या आदमी हैं !

"मेरी इच्छा होती है और ठाकुर से बारम्बार कहता भी हूँ कि गौरांग अवतार में तो तुमने नदिया* को डुबा दिया था, पर इस बार तुम्हारे भाव से देश अभी तक प्लावित नहीं हो सका। इच्छा होती है कि मैं वह प्लावन देखकर ही प्राणत्याग करूँ।"

अमूल्य महाराज – "जो चीज धीरे-धीरे बढ़ती है, वही काफी दिनों तक रहती है। खर-पतवार की आग जितनी जल्दी जल उठती है, उतनी ही जल्दी बुझ भी जाती है।"

बाबूराम महाराज एण्टाली के कृष्णबाबू से भजन गाने को कह रहे हैं। उसी कमरे के तख्त पर से हारमोनियम, तबला आदि लाकर मन्दिर में लगा दिया गया। नीरद महाराज (अम्बिकानन्दजी) ने तबले का सुर मिला दिया। डॉ. कांजीलाल ने तानपूरा सँभाला और कृष्ण बाबू ने गाना आरम्भ किया –

"(भावार्थ) अनाथ, आतुर लोग तुम्हारा नाम सुनकर तुम्हारे द्वार पर आये हुए हैं, उन्हें खाली हाथ मत लौटा देना। जो लोग निराश होकर रोते हैं, उनकी आँखें पोंछ देना, भय से कम्पित उनके मन को अभय प्रदान करना। कितने ही

* नवद्वीप – बंगाल में गंगा के तट पर स्थित चैतन्यदेव का जन्मस्थान

अभागे निराश्रय दीन-हीन लोग दु:ख-शोक से जर्जरित होकर दिन-रात रोते हैं; जो लोग पाप-पंक में डूबे हुए हैं, वे भला किसके पास जायेंगे, उनके लिए भला पथ कहाँ है, तुम उन्हें दर्शन प्रदान करो।''

इसके बाद दूसरा भजन हुआ – (भावार्थ) –

रामकृष्ण के पद-कमलों में
रम जा मेरे मन-मधुकर।
कण्टकमय है विषय-केतकी,
मत जाना कदापि उस पर।।
जन्म-मृत्यु हैं विषय व्याधियाँ
कितना इन्हें सहोगे और?
पान करो पद-प्रेमामृत का,
मिट जायेगा उनका जोर।।
धर्म-अधर्म, शान्ति-ज्वाला, दुख-
सुख के द्वन्द्वों से निस्तार,
यदि चाहो, तो ज्ञान-खड्ग ले,
कर्म-डोर पर करो प्रहार।।
मुख से रामकृष्ण का जप हो,
मोहनिशा मिट होगी भोर।
दुखद स्वप्न का कष्ट कटेगा
टूट जायेगी निद्रा घोर।।

(भजन हो जाने के बाद) बाबूराम महाराज कहने लगे – ''तुम लोगों को सिद्ध होना होगा। हम लोग तो भाई साधुगीरी आदि नहीं चाहते। ठाकुर कहते थे, 'कौन साला साधु है!' 'मैं साधु हूँ' – इतना अभिमान भी ठाकुर में नहीं था। हम ठाकुर और स्वामीजी को ही आदर्श बनायेंगे। ऋषिकेश के साधुओं का आदर्श लेने से काम नहीं चलेगा। वे लोग कहते है कि जगत तीनों कालों में नहीं है। दूसरी ओर सभी अपने अपने मतलब के लिए दौड़धूप और मारपीट भी कर रहे हैं। हम लोग तो भाई साधु भी नहीं हैं, गृहस्थ भी नहीं हैं, विरक्त भी नहीं हैं और भोगी भी नहीं हैं। हम तो ठाकुर को मानते हैं और उन्हीं को आदर्श के रूप में अपनाया है। इसीलिए जो लोग त्याग, वैराग्य, संयम, पवित्रता की ओर दृष्टि न रखकर केवल ऋषिकेश आदि स्थानों पर जाते हैं, उनके ऊपर मैं बड़ा नाराज हूँ। भिक्षा माँगकर खाओगे और आलस्यपूर्वक पड़े रहोगे, बस और क्या!

''अरे भाई! भगवान में मन को स्थिर करना क्या इतनी आसान बात है! नि:स्वार्थ भाव से कर्म करने से ही चित्तशुद्धि होती है। तब ध्यान करने पर बिल्कुल जम जाता है। नहीं तो फिर आकाश, पाताल आदि का चिन्तन करते रहो। मन्दिर में देखता हूँ न, ध्यान करने बैठकर कोई तो लुढ़क रहा है, तो कोई खाँस रहा है और कोई खँखार रहा है, आदि आदि। ऋषिकेश की कुटिया में रहने पर कहते हैं – विरक्त साधु हैं! दोपहर में कहीं गप्प आदि लगाने के बाद शाम को थोड़ा-सा जप आदि करके सो पड़े, बस इतना ही।

''तुम लोग भक्त होना। ज्ञानी होना क्या इतना ही सहज है? ठाकुर कहा करते थे कि एकमात्र स्वामीजी ही ज्ञान के अधिकारी हैं। भगवान को पाने के लिए भाव चाहिए, भक्ति चाहिए। वे तो भाव के विषय हैं, उन्हें क्या अभाव से पाया जा सकता है? इतना कहकर वे गाने लगे – (भावार्थ) –

रे मन, अँधेरे कमरे में पागल के समान,
तू उसे पाने का प्रयास क्यों कर रहा है?
वह तो भाव का विषय है। बिना भाव के,
अभाव द्वारा क्या कोई उसे पकड़ सकता है?
पहले अपनी शक्ति के द्वारा
काम-क्रोधादि को अपने वश में करो।
वह जो कोठरी के भीतर चोर-कोठरी है,
भोर होते ही वह उसमें छिप जाएगा।
उसका दर्शन न तो षड्दर्शनों को मिला है,
न निगम-आगम-तन्त्रों ने ही पाया है।
वह भक्तिरस का रसिक है,
सदा आनन्दपूर्वक हृदय में विराजमान है।
उस भक्तिभाव को पाने के लिए
बड़े बड़े योगी युग-युगान्तर से योग कर रहे हैं।
जब भाव का उदय होता है,
तब भक्त को वह अपनी ओर वैसे ही
खींच लेता है, जैसे लोहे को चुम्बक।
'प्रसाद' कहता है कि मैं मातृभाव से
जिसकी खोज कर रहा हूँ,
उसके तत्त्व का भण्डा
क्या मुझे चौराहे पर फोड़ना होगा?
मन, तुम इशारे से ही समझ लो न!

''सूई यदि कीचड़ में लिपटी हो, तो क्या वह चुम्बक के प्रति आकृष्ट हो सकती है? निष्काम कर्म से मन का मैल कट जाने पर ही भाव-भक्ति होती है, भगवान परम आत्मीय प्रतीत होते हैं और हृदय सरस हो उठता है। परन्तु जो व्यक्ति कर्मेन्द्रियों का संयम करके मन-ही-मन विषयों का चिन्तन करता है, उस मूर्ख को मिथ्याचारी कहते हैं –

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। ३/६

''त्रिकालज्ञ स्वामीजी कहा करते थे कि सारा देश सत्त्व के भ्रम में तमोगुण में डूबा हुआ है। रजोगुण से होकर गये बिना भी क्या सत्त्व में पहुँचा जा सकता है? इसीलिए सामान्य लोगों के लिये वे उस निष्काम कर्म का प्रचार कर गये, जिसका पार्थसारथी श्रीकृष्ण ने कभी भारत में प्रचार किया था। काल के प्रवाह में उस भाव के लुप्त हो जाने के

कारण देश क्रमशः तमोगुण में डूबा जा रहा था। इसीलिए तो देश का उद्धार करने के लिए श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी आये। ज्ञान, भक्ति, कर्म – जिसके पेट के लिए जो उपयुक्त है, माँ उसके लिए वैसी ही व्यवस्था करती है।

''सुबह-शाम थोड़ा जप कर लिया और बाकी समय परचर्चा तथा आलस्य में बिताने की अपेक्षा निष्काम कर्म करना क्या उत्तम नहीं है? महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) का कहना है कि जो लोग निष्काम भाव से निर्धनों, दीन-दुखियों, आर्त-रोगियों की सेवा कर रहे हैं, उनका लाखों जप करने का फल हो रहा है। यह केवल सांत्वना-वाक्य नहीं, सच्ची बात है। चित्तशुद्धि होने पर ही कर्मत्याग हो सकता है।

''ठाकुर कहा करते थे कि पैसा रहे, तो बाजार में हीरे-मोती आदि बहुत मिलते हैं, परन्तु कृष्ण में मति होना दुर्लभ है। इस भाव, भक्ति, समाधि आदि को प्राप्त करने के लिए साधना करनी होगी। पहले निष्काम कर्म करना चाहिए, केवल पुस्तकें रटने से क्या होगा? जीवन के द्वारा दिखाये बिना काम नहीं चलेगा। देखो न, शशि महाराज (स्वामी रामकृष्णानन्द) कितने बड़े कर्मवीर हैं! इन्हीं लोगों को अपना आदर्श क्यों नहीं बना लेते!

''यह जो मठ-मन्दिर आदि देख रहे हो, इन सभी के मूल में शशि महाराज ही हैं; तुम्हारे राखाल महाराज भी नहीं, शरत् महाराज भी नहीं, बाबूराम महाराज भी नहीं और यहाँ तक कि स्वामीजी भी नहीं। मैं दृढ़ता के साथ कह सकता हूँ कि एकमात्र शशि महाराज ही इसके कारण हैं।

''आलमबाजार मठ में स्वामीजी आदि सभी ने तो ठाकुर-पूजा पर आपत्ति व्यक्त की थी। एकमात्र शशि महाराज ने ही उसका प्रतिवाद किया। वे उसी फटी हुई चटाई पर ठाकुर का चित्रपट रखकर उनकी पूजा किया करते थे। इसे बन्द करवाने के लिए एक दिन स्वामीजी आदि सभी नाराज होकर बलराम बाबू के घर चले गये। केवल शशि महाराज ही पूजा के पक्षधर थे और एकमात्र वे ही आलमबाजार मठ में रह गये। दूसरे दिन बलराम बाबू ने सबको समझा-बुझाकर फिर से मठ में वापस भेज दिया।

''पहले ठाकुर को भोग नहीं दिया जाता था, केवल हमीं लोगों के लिए भोजन पकता था। बाद में स्वामीजी ने इसे शुरू किया। शशि महाराज के समय ठाकुर-पूजा और भी अच्छी तरह हुआ करती थी। अब तो सब काट-छाँटकर पूजा होती है। पहले दातुन भी कूचकर रूई के समान बनाकर दी जाती थी, अब तो सब मानसिक रूप से ही दिया जाता है।

''मद्रास प्रेसीडेन्सी (वर्तमान तमिलनाडु) में शशि महाराज तथा स्वामीजी घर-घर में सुपरिचित हैं। अहा! शशि महाराज उधर के दिक्पाल थे। (केरल के) दक्षिणी लोगों में उन दिनों बड़ी कट्टरता थी, शूद्र लोगों को थूकने तक के लिए हाथ में बरतन लेकर रास्ते में निकलना पड़ता था। जिस अंचल में ऐसी कट्टरता प्रचलित थी, वहाँ भी उन्होंने वहीं के ब्राह्मणों से प्रेमपूर्वक शूद्रों के लिए भोजन परोसवाया। (अमूल्य महाराज के प्रति) तुम लोग शशि महाराज की एक जीवनी लिखने का प्रयास करो न।''

बाबूराम महाराज थोड़ी देर तक अपने आप में मग्न रहकर धीरे धीरे तालियाँ बजाते हुए 'हरिबोल, हरिबोल' कहते रहे।

अमूल्य महाराज – ''मद्रास में एक दिन मैंने देखा कि काफी थककर लौटने के बाद शशि महाराज अपने वस्त्र उतार कर केवल कौपीन मात्र पहने चटाई पर सो गये। इसके दो मिनट बाद ही वे उठ खड़े हुए और मानो स्वामीजी को प्रत्यक्ष सामने देखते हुए कहने लगे, 'देख, तूने मुझको कहाँ भेज दिया है? मेहनत कर-करके प्राण निकल रहा है। तेरे कारण ही तो मद्रास आया हूँ, अब और नहीं होता।' इतना कहने के बाद वे बिल्कुल साष्टांग प्रणाम की मुद्रा में पड़ गये और मानो उनके पाँव पकड़कर बोले, 'भाई, मैं तुम्हें समझ नहीं सका, इसीलिए ये सारी बातें कह बैठा, माफ करो। भाई, तुम जो भी कहोगे, मैं सब करने को तैयार हूँ।' ''

सभी निस्तब्ध बैठे हैं। बाबूराम महाराज फिर कहने लगे, ''तुम लोग श्रीमाँ के चरित्र का अनुसरण करो। वे तो अभी भी सशरीर उपस्थित हैं। और तुम लोगों ने तो उनका दर्शन भी किया है, कृपा भी पाई है, यह सब क्या कम भाग्य की बात है! साक्षात् जगदम्बा की कृपा! चित्र के माध्यम से तो माँ कितने ही स्थानों पर भोग ग्रहण कर रही हैं, परन्तु वे अपने उस वातयुक्त शरीर में किसी की भी सेवा नहीं लेतीं। परिचित या अपरिचित, जो कोई भी गाँव में उनके पास जाता है, उसका वे कितनी सेवा-यत्न करती हैं! अहा, वे उसके लिए स्वयं ही भोजन पकाती हैं, पानी लाती हैं और यहाँ तक कि जहाँ कहीं भी अच्छा अनाज, दूध आदि मिलता है, मीलों जाकर स्वयं ही ढूँढ़ लाती हैं। भक्त ने प्रसाद ग्रहण किया। उसे ख्याल नहीं कि घर में बरतन माँजने आदि के लिए कोई सेविका नहीं है; माँ स्वयं ही उससे छिपाकर चौका साफ कर रही हैं।

''एक बार बागबाजार में जाकर एक व्यक्ति ने माँ से शिकायत की थी कि मठ में बहुत परिश्रम करना पड़ता है। इस पर माँ ने उत्तर दिया था, 'हाँ, हाँ, काम अवश्य करोगे। काम करने से मन शान्त रहता है।' ''

अमूल्य महाराज – ''मैंने भी माँ को गाँव में भक्तों की सेवा के लिए बाजार से सिर पर टोकरी रखे पिछवाड़े के रास्ते घर में प्रवेश करते देखा है।''

रात के नौ बजे हैं। प्रसाद पाने का घण्टा बजा। एक एक कर महाराज के चरणों में सिर नवाकर प्रणाम करने के बाद सभी प्रसाद पाने चले गये। ❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी सदानन्द (५)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। बँगला भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

इसके बाद सदानन्द किसी निर्दिष्ट कर्म के दायरे में नहीं दिखाई दिये, तथापि उनके जीवन का बाकी भाग जप-ध्यान, देश-पर्यटन तथा छोटे-छोटे युवा-संघों में स्वामीजी के भाव-प्रचार आदि विभिन्न पृष्ठभूमियों के बीच दीख पड़ता है। स्वामीजी के सान्निध्य में वे देश के एक भाग से दूसरे भाग तक परिभ्रमण के दुर्लभ सौभाग्य के अधिकारी हुए थे। स्वामीजी के महाप्रयाण के केवल कुछ ही दिन पूर्व, अप्रैल १९०२ ई. में वे नेपाल की यात्रा पर गये थे। वे भगिनी निवेदिता के विभिन्न कार्यक्रमों के पृष्ठपोषक तथा उत्साहदाता के रूप में भी सुपरिचित थे। स्वामीजी की महासमाधि के थोड़े दिनों बाद सितम्बर के महीने में भगिनी निवेदिता जब नागपुर, मुम्बई आदि स्थानों की प्रचार-यात्रा पर गयीं, तो सदानन्द भी उनके साथ थे। उसी वर्ष के दिसम्बर में वे लोग दक्षिण-भारत की ओर भी गये थे।

ईसामसीह के जन्मदिन की स्मृति में 'बड़ा दिन' मनाना – इस यात्रा की एक विशेष घटना है। १३ दिसम्बर (१९०२) को उन लोगों ने उड़ीसा में भुवनेश्वर के निकट स्थित खण्डगिरि में यह दिन मनाया। ब्रह्मचारी अमूल्य (बाद में स्वामी शंकरानन्द) भी इस यात्रा में उन लोगों के संगी थे। वे उस समय मठ में नये-नये ही सम्मिलित हुए थे। नक्षत्र-खचित आकाश के नीचे निस्तब्ध पर्वत में घास पर बैठकर, प्रज्वलित धूनी के समक्ष निवेदिता बाइबिल से पाठ कर रही थीं और कम्बल बिछाकर बैठे हुए सदानन्द ध्यानाविष्ट होकर ईसा की अलौकिक जीवनी सुनते हुए मानो किसी अज्ञात आनन्दलोक में चले गये। उस संध्या को ईसा को अवलम्बन बनाकर वे लोग अपने प्रिय आचार्य स्वामीजी के ही भाव में डूब गये थे। उनकी यह अनुभूति भगिनी निवेदिता की भाषा में इस प्रकार है, "भगवान करें कि हमारे आचार्यदेव की यह जीवन्त सत्ता, जिससे साक्षात् मृत्यु भी हम लोगों को वंचित नहीं कर सकी, वह उनके हम शिष्यों के लिये मात्र स्मरणीय वस्तु न रहकर, जीवन के अन्तिम दिन तक सर्वदा ज्वलन्त जाग्रत भाव से हम लोगों के साथ रहेगी।"

उड़ीसा से मद्रास जाकर उन लोगों को कुछ काल स्वामी रामकृष्णानन्दजी के सान्निध्य में बिताने का सुयोग प्राप्त हुआ था। इसी वर्ष मद्रास में पहली बार स्वामीजी के आविर्भाव का उत्सव मनाया गया। रामकृष्णानन्दजी उस दिन अपने प्राणप्रिय नेता आचार्य विवेकानन्द के भाव में विभोर हो गये थे। सदानन्द तथा निवेदिता ने भी वह दिन श्रीगुरु की स्मृति में तन्मय होकर बिताया था। दक्षिण भारत के इस भ्रमण के दौरान उन लोगों ने मद्रास नगर तथा कुछ अन्य स्थानों में भी जाकर स्वामीजी के सन्देश का प्रचार किया था। स्वामीजी के तिरोभाव के अल्प दिनों के भीतर ही उनके विचारों तथा आदर्शों – अर्थात् रामकृष्ण-भावधारा को भारत की जनता जैसी श्रद्धा के साथ अपने हृदय में बसा रही थी, इससे वे लोग खूब आशान्वित हुए थे। सदानन्द ने अनुभव किया था कि स्वामीजी ने भले ही स्थूल शरीर छोड़ दिया हो, परन्तु जन-साधारण के चित्त में सूक्ष्म रूप से उनका कार्य ठीक ही चल रहा है।

१९०३ ई. के प्रारम्भ में निवेदिता ने छोटे-छोटे बच्चों के लिये एक 'विवेकानन्द-विद्यार्थी-आश्रम' (Vivekananda Home) स्थापित करने का निश्चय किया। इस आश्रम के बच्चे मातृभूमि से प्रेम करेंगे, उसी की सेवा में अपना जीवन अर्पित करके स्वामीजी की दृष्टि से भारतमाता की उपलब्धि करेंगे। अध्ययन के साथ-ही वे लोग वर्ष का काफी हिस्सा भारत का पर्यटन करते हुए घूमेंगे – इस प्रकार वे भारत के अखण्ड रूप का साक्षात्कार करेंगे। इसी आदर्श को सामने रखकर स्वामी सदानन्द के नेतृत्व में बालकों की एक टोली (अप्रैल में) काठगोदाम के मार्ग से केदार-बदरी तीर्थों का दर्शन करने गयी थी। उत्साही किशोरों की यह टोली संन्यासी अभिभावक के साथ दुर्गम पिण्डारी हिमनद तक जाने में सफल हुई थी। घर से बँधे हुए बच्चों का, माँ का आँचल छोड़कर, सूर्य के आलोक में बाहर निकलकर पहाड़ों-जंगलों में घूमना – तत्कालीन समाज के दृष्टिकोण से निःसन्देह एक आश्चर्यजनक घटना थी। उस समय इस अभियान-दल में श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अपने पुत्र को भेजा था। सदानन्द के नेतृत्व में इसी तरह का एक भ्रमण अगले साल भी हुआ था। वैसे अर्थाभाव तथा अन्य कई कारणों से निवेदिता की यह परिकल्पना भविष्य में जारी नहीं रह सकी थी।

१९०३ ई. के मध्यकाल में सदानन्द एक बार ब्रह्मचारी अमूल्य को साथ लेकर भारत के बाहर जापान-भ्रमण करने गये थे। सदानन्द के इस जापान-परिदर्शन के प्रसंग में भगिनी निवेदिता का यह कथन बड़ा ही अर्थपूर्ण है – "मेरा

विश्वास है कि सदानन्द के शरीर में ही स्वामीजी उस भूमि में (जापान) जाना चाहते हैं।''

२० जनवरी, १९०४ को सदानन्द भगिनी निवेदिता के साथ एक बार और प्रचार-यात्रा पर गये थे – इस बार उनका गन्तव्य था पटना। ब्रह्मचारी अमूल्य भी उन लोगों के साथ गये थे। पटना में एक दिन सदानन्दजी ने मैजिक लैंटर्न (स्लाइड शो) की सहायता से जापान के विषय में जानकारी देने के लिये महिलाओं की एक विराट् सभा का आयोजन किया, जिसमें उन्होंने अमूल्य के द्वारा चित्रों की व्याख्या करवाई थी। पटना से वे लोग लखनऊ गये – मार्ग में वे बख्तियारपुर और राजगीर भी गये। राजगीर में ठहरकर वे विभिन्न प्रकार का ज्ञान संचय करते हुए गये थे। बोधगया में वे लोग महन्तजी के अतिथि हुए थे। वहाँ उन लोगों ने भगवान बुद्ध की स्मृति से जुड़े बोधिवृक्ष के नीचे, चन्द्रालोक से उद्भासित एक रात मौन बैठकर परम तृप्ति का अनुभव किया था। इस प्राचीन वृक्ष के साथ स्वामीजी की स्मृति भी जुड़ी हुई है। इन पुण्य स्मृतियों से भावाविष्ट होकर सदानन्द ने बोधिवृक्ष के नीचे काफी समय बिताया था। मार्च में वे लोग लखनऊ से वाराणसी गये।

इन्हीं दिनों बोधगया के मन्दिर पर अधिकार को लेकर तीव्र आन्दोलन चल रहा था। आन्दोलन का मूल उद्देश्य था कि मन्दिर को पूरी तौर से बौद्ध लोगों को सौंप दिया जाय। इस आन्दोलन के प्रतिवाद-स्वरूप उसी वर्ष के अक्तूबर में एक विराट् प्रतिनिधि मण्डल ने बोधगया की यात्रा की थी, जिसमें सदानन्द भी थे। यह टोली भगिनी निवेदिता के नेतृत्व में गयी थी – अन्य लोगों में थे भगिनी क्रिस्टिन, श्री जगदीश चन्द्र बोस, श्रीमती अबला बोस, श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री तथा श्रीमती रैटक्लिफ, श्री यदुनाथ सरकार, श्री मथुरानाथ सिंह तथा ब्रह्मचारी अमूल्य। इस टोली के साथ सदानन्द ने लगभग एक माह तक बोधगया, राजगीर, नालन्दा आदि इतिहास-प्रसिद्ध स्थानों का पुन: परिभ्रमण किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने मदर सेवियर के साथ एक बार फिर बोधगया का दर्शन किया था।

सदानन्द का स्वास्थ्य क्रमश: बिगड़ रहा था। मानो प्रकृति के नियमानुसार ही इतने बलिष्ठ व्यक्ति को भी बाध्य होकर विश्राम लेना पड़ रहा था। परन्तु वे जहाँ कहीं भी रहते, अपने पास आनेवाले लोगों – विशेषकर युवकों के बीच स्वामीजी के भावों का प्रचार करते, व्याख्या करना और उन्हीं के बारे में चर्चा करना सदानन्द का जीवन-व्रत हो गया था। १९०९ ई. में उन्होंने बाँकुड़ा जिले के विष्णुपुर ग्राम में कुछ काल बिताया था। यह प्राचीन ऐतिहासिक स्थान श्रीरामकृष्ण तथा श्रीमाँ की पुण्य स्मृतियों से भी जुड़ा है। सदानन्द के विष्णुपुर-निवास के दौरान जो कोई भी उनके सम्पर्क में आया, वही श्रीरामकृष्ण-भाव से अनुप्राणित हो गया। इनमें सुरेश्वर सेन तथा उनका परिवार विशेष उल्लेखनीय है। स्मरणीय है कि श्रीमाँ बाद में जयरामवाटी से कलकत्ते आने-जाने के मार्ग में विष्णुपुर में ठहरकर इन्हीं भाग्यवान सेन परिवार के गड़दरजा के मकान में थोड़ी देर के लिये विश्राम करतीं और कभी-कभी दो-एक दिन ठहर भी जातीं। श्रीमाँ जब अन्तिम बार (२४ फरवरी १९२० को) जयरामवाटी से कलकत्ते आयीं, तब भी वे सुरेश्वर बाबू के घर दो रात बिताकर आयी थीं। भक्त सुरेश्वर बाबू का इसके कई माह पूर्व ही देहान्त हो चुका था। माँ ने उस समय उनके एक युवा पुत्र को कहा था, ''इस घर को रखना। यहाँ तुम्हारे पिता थे, सदानन्द आया था और मैं भी आयी हूँ। यह सब जो देख रहे हो, इसका रास्ता तो सदानन्द ने ही खोल दिया है।'' माँ के मुख से यह सुनकर युवक ने मन-ही-मन सोचा कि सचमुच, यदि गुप्त महाराज न आते तो! पर माँ ने कहना जारी रखा, ''यदि गुप्त नहीं आता, तो ठाकुर कुछ और करते। गुप्त ने ही इन लोगों का सारा रास्ता खोल दिया है।''

अस्तु। सदानन्द का स्वास्थ्य लगातार तेजी से बिगड़ता जा रहा था। मधुमेह के फलस्वरूप उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल तथा क्षीण होता रहा। कलकत्ते में रहने से चिकित्सा में सुविधा होगी, यह सोचकर भगिनी निवेदिता ने स्वयं ही बागबाजार के बोसपाड़ा लेन में किराये का एक मकान लेकर उनके लिये उपयुक्त पथ्य तथा सेवा आदि की व्यवस्था कर दी थी। उनके अनुरागी युवकों की एक टोली ने निवेदिता के ही निर्देशानुसार पूरे जी-जान के साथ उनकी सेवा में मनोनियोग किया था।[१] ये अनुरागी युवक स्वयं को 'सदानन्द के कुत्ते' कहकर अपना परिचय देने में गौरव का बोध करते थे। इस छोटी-सी बात से यह समझने में कोई कष्ट नहीं होता कि सदानन्द ने उन लोगों का हृदय किस हद तक जीत लिया था। दो वर्ष से भी अधिक काल तक वे बिस्तर पर पड़े रहे और ये कुछ अनुरागी युवक उनकी सेवा में आप्राण श्रम करते रहे।

सदानन्द के जीवन के अन्तिम उनके शरीर-मन की सारी स्वाभाविक वृत्तियाँ शान्त होकर, केवल शरणागति का भाव ही मानो उनकी एकमात्र मनोवृत्ति हो गयी थी। माया के सकल बन्धनों को छिन्न करके, स्व-भाव में प्रतिष्ठित रहकर वे अपने चिर-वांछित मुक्ति के लिये बड़े ही व्याकुल हो उठे

१. ''Since the Swami's death, Swami Sadananda had been Nivedita's greatest guide, philosopher and friend ... when he had fallen ill, Nivedita had rented a house near her own and had made arrangemets for his diet etc.. Some boys served him, but Nivedita went to him every day and looked after like a loving mother.''
– Sister Nivedita, by Pravajika Atmaprana

थे। कहते हैं कि अपनी स्वस्थ अवस्था के दिनों में एक बार वे घूमते-घूमते एक विशाल उद्यान के एक किनारे एकान्त में नि:संग अवस्था में एक कुत्ते को मरते देखकर सदानन्द ने कहा था, "अहा, क्या ऐसा दिन भी आयेगा, जब सभी प्रकार के बन्धनों से दूर, सबके अगोचर, मेरे जीवन का भी इसी प्रकार अन्त होगा!" सदानन्द सर्वदा ही निर्भीक थे। अपने अन्तिम समय में भी वे माया-निर्मुक्त संन्यासी के समान ही आग्रहपूर्वक अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे। सम्भवत: स्वामीजी की यह वाणी अब उनके हृदय में निरन्तर प्रतिध्वनित हो रही थी, "संक्षेप में संन्यास का अर्थ है – मृत्यु से प्रेम करना। यह आत्महत्या नहीं है, बल्कि मृत्यु को अवश्यम्भावी जानकर स्वयं को पूरी तौर से तिल-तिल कर दूसरों के कल्याण हेतु उत्सर्ग कर देना।" रोगशय्या पर भी सदानन्द में जो अद्भुत गुरुभक्ति, निष्ठा तथा विश्वास देखने को मिलता, वह सचमुच ही अनुकरणीय है।

इस काल की एक मर्मस्पर्शी घटना का यहाँ उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। १९११ ई. की बात है। मायावती से स्वामीजी की ग्रन्थावली एक-एक खण्ड क्रमश: प्रकाशित हो रही थी। सदानन्दजी को मायावती से सम्भवत: बीच-बीच में उसके मुद्रित फार्मे भेजे जाते थे। वे बड़ी श्रद्धा के साथ उन्हें पढ़ते और स्वामीजी की बातें याद करके अश्रुपात् करते। परन्तु वे पूरी तौर से बिस्तर पकड़े हुए थे। उन दिनों उनके लिये मल-मूत्र त्याग के लिये भी उठना सम्भव न था, सेवकगण शय्या पर ही उसकी व्यवस्था कर देते थे। बिस्तर पर चादर के नीचे एक कागज बिछाने की जरूरत पड़ती थी। एक दिन उन्होंने सेवक से पूछा कि वह बिस्तर पर कौन-सा कागज बिछाता है। पुराने अखबार बिछाये जाते हैं, सुनकर उन्होंने खेदपूर्वक कहा, "नहीं, नहीं, वह कागज मत बिछाना। उसमें माँ सरस्वती का वास है। हो सकता है कि उसमें और भी कितने ही देवी-देवताओं की बातें छपी हों। वह सब कागज बिछाकर तुम लोग मुझे अपराधी बना रहे हो। निश्चय ही मुझसे अपराध हो रहा है।" उनके इसी प्रकार बारम्बार कहने पर सेवक ने पूछा, "तब तो सभी कागज ही सरस्वती हैं, तो फिर कौन-सा कागज लगाया जाय?" अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ सदानन्द ने तत्काल उत्तर दिया, "वह सब कागज लगाना, जिसमें स्वामीजी की बातें हों। मैं उनकी सन्तान हूँ – वे मेरा कोई भी अपराध अपराध नहीं मानेंगे। उनके लिये तो मेरे सारे दोष ही क्षम्य हैं। वे ही मेरे माँ, बाप, गुरु – सब कुछ हैं।" यह घटना छोटी-सी है, परन्तु भाव-गाम्भीर्य की दृष्टि से अतुलनीय है।

मिस मैक्लाउड को लिखित निवेदिता के एक व्यक्तिगत पत्र की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उल्लेखनीय हैं। इनमें विवेकानन्द-शिष्य सदानन्द के अनुभूतिमय आध्यात्मिक जीवन का एक गोपनीय परन्तु मूल्यवान प्रमाण प्राप्त होता है। निवेदिता की उक्तियों का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है, "इसके बाद मैं जो बात लिखने जा रही हूँ, भविष्य में इस विषय में मेरे साथ या अन्य किसी के साथ चर्चा मत करना। इसे एक परम पवित्र रहस्य के रूप में रखना। सदानन्द जब वहाँ (जापान में) थे, तो स्वामीजी उनके समक्ष एक बार प्रगट हुए थे। उस समय उन्होंने उनके साथ बातें भी की थीं। सदानन्द इस अनुभूति में विभोर हैं। उन्हें ऐसा बोध होता है कि उन्हें परम लक्ष्य की प्राप्ति हो गयी है। वे जानते हैं कि सब कुछ सत्य है और हम लोग उस सत्य तक पहुँच चुके हैं।"[२]

श्रीमाँ स्वयं ही एक दिन बोसपाड़ा लेन के मकान में बीमार सदानन्द को दर्शन देने गयी थीं – योगीन-माँ तथा गोलाप-माँ भी साथ थीं। वह २५ नवम्बर, १९१० का दिन था। माँ को साष्टांग प्रणाम करके उठते ही सदानन्द ने हाथ जोड़कर कहा था, 'माँ, बाइस वर्ष पहले आपने मुझे जो आशीर्वाद दिया था, उसी के बल पर मेरा यह संन्यास-जीवन भलीभाँति कट गया। अब तो जाने का समय हो गया है – उस पार क्या है, यह तो मैं बिल्कुल भी नहीं जानता।" माँ ने उन्हें अभयदान करते हुए कहा, "भय क्या है बेटा? उस पार ठाकुर तुम्हें गोद में लेने के लिये बैठे हुए हैं।" परन्तु सदानन्द अधीर हो उठे। उन्होंने रुद्ध कण्ठ के द्वारा माँ से प्रार्थना की, "बाइस वर्ष पहले आपने जैसे आशीर्वाद दिया था, ठीक वैसे ही एक बार फिर आशीर्वाद दीजिये।" सदानन्द का आर्तभाव देखकर माँ मौन रह गयीं। माँ को मौन देखकर सदानन्द फिर आकुल हो उठे और बोले, "माँ, यदि आप उसी प्रकार से आशीर्वाद न करे, तो फिर मैं यहीं आपके चरणों के नीचे अभी प्राण त्याग दूँगा।" करुणामयी जननी ने आखिरकार सन्तान के अवनत सिर पर चरण रखकर आशीर्वाद दिया था। यह दिव्य भाव-व्यंजक दृश्य सदानन्द के आध्यात्मिक जीवन के एक महत्त्वपूर्ण पहलू का परिचय देता है। बाइस वर्ष पूर्व श्रीमाँ ने उन्हें क्या आशीर्वाद दिया था, वह तो अज्ञात है ही – उस दिन भी उन्होंने क्या आशीर्वाद दिया, यह भी उस दिन वहाँ उपस्थित सभी लोगों के लिये अज्ञात ही रह गया। वीरभक्त सदानन्द की मातृभक्ति अतुल्य है। पहले जब माँ बागबाजार के बोसपाड़ा लेन के किराये के मकान में निवास करती थीं, तब सदानन्द प्रति दिन उस मकान के बरामदे में बैठकर काफी समय बिताया करते। तथापि वे कभी घर के भीतर जाकर माँ को दर्शन या प्रणाम करते नहीं दीख पड़ते थे। इस प्रसंग में उनकी वह उक्ति बड़ी अर्थपूर्ण है। वे कहते, "माँ को जीवन में एक बार देखने से ही सब कुछ हो जाता है।" यह उक्ति सदानन्द के

२. पत्र का दिनांक है – १४ जनवरी, १९०४ ई.

हृदय के अन्तरंग से निकली है, इसीलिये इतनी मधुर है।

सदानन्द एक निष्ठावान जापक थे। मृत्यु-शय्या पर भी उनका मंत्रजप निरन्तर चलता रहता था। श्रीगुरु के चरणों में चिर-विश्राम पाने के लिये उनकी व्याकुलता दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही थी। १८ फरवरी, १९११ ई. को अपराह्न के तीन बजे थे। सदानन्द के नेत्र सहसा – दीवार पर लगे स्वामीजी के दो चित्रों की ओर जाकर अपलक दृष्टि से निहारने लगे। "स्वामीजी, स्वामीजी, स्वामीजी" – तीन बार यह प्रिय नाम उच्चारण करने के बाद स्वामीजी के वीर शिष्य गुप्त महाराज अनन्त काल के लिये स्वामीजी के ही चरणों में विलीन हो गये।

स्वामीजी के अत्यन्त प्रिय 'गुप्त' – अपनी असाधारण गुरुभक्ति के लिये इतिहास में अमर रहेंगे। ऐसा कोई भी कार्य नहीं था, जिसे वे स्वामीजी के लिये नहीं कर सकते हों – प्राण-विसर्जन तो उनके लिये बड़ी छोटी-सी बात थी। गुप्त महाराज के जीवन के जितने भी महान् गुण हैं, यही उनका गुप्त रहस्य है। एक बार स्वामीजी ने अपने आसपास के लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा था, "यदि मुझसे भी अच्छा कोई साधु देखने को मिले, तो तुम लोग मुझे छोड़ दोगे न?" उपस्थित सभी लोगों ने स्वामीजी के इस प्रश्न का उत्तेजनापूर्वक उत्तर दिया था, "नहीं, कदापि नहीं – हमारे लिये ऐसा कर पाना असम्भव है।" अब स्वामीजी ने सदानन्द की ओर उन्मुख होकर पूछा, "सदानन्द, तेरा क्या कहना है?" उन्होंने क्षण भर भी देरी किये बिना निःसंकोच उत्तर दिया था, "हाँ, मैं छोड़ दूँगा। जिस दिन आपसे भी बड़े किसी को देखूँगा, उसी दिन आपको छोड़ दूँगा। अधिक बड़ा या अधिक अच्छा देखने का अर्थ ही तो है – छोड़ देना।" सदानन्द की गुरुभक्ति कितनी उच्च थी, इस भाव-द्योतक उक्ति के द्वारा इसका किंचित् आभास मात्र मिलता है।

भक्ति का अन्तिम परिणाम है प्रेमास्पद के साथ अभिन्नता का बोध। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में सदानन्द दमे से काफी कष्ट पा रहे थे। एक दिन वे उस कष्ट के साथ ही शान्त-गम्भीर भाव से अपनी शय्या पर बैठे हुए थे। थोड़ी देर बाद उन्होंने सेवक से कहा, "जब कष्ट खूब बढ़ गया था, तब मुझे स्वामीजी का प्रत्यक्ष दर्शन मिला। मैंने देखा कि वे मुझसे भी अधिक हाँफ रहे हैं और कह रहे हैं, 'मुझे देख। भय की क्या बात है?' " इस घटना के बाद से उन्होंने दमे के कष्ट को कभी व्यक्त नहीं किया। सेवकों से वे प्रायः ही कहते, "स्वामीजी ने मेरे पाँव तोड़ दिये हैं; नहीं तो क्या तुम लोगों को मैं अपना शरीर छूने देता? मैंने इसी शरीर से स्वामीजी की सेवा की है।" एक बार यह सोचकर कि उन्हें बड़ा कष्ट हो रहा है, भगिनी निवेदिता ने पूछा था, "महाराज, आपको अवश्य बड़ा कष्ट हो रहा है।" सदानन्द ने हँसते हुए उत्तर दिया था, "No, Sister, I have dissociated myself from the body. I see it suffering." ("नहीं भगिनी, मैं शरीर से अलग हो गया हूँ। देखता हूँ कि शरीर कष्ट भोग रहा है।")

आचरण की दृष्टि से वे वीर थे, व्यवहार में सहानुभूतिशील थे और परोपकार में वे सदैव आत्मविभोर रहते थे। इसीलिये 'प्रबुद्ध भारत'[३] ने उनके बारे में सच ही लिखा था, "There was no work so hard, no difficulty so insurmountable, no word of command so impracticable, that he could not carry into effect – for the sake of Swamiji. Heroic in his ways, loving in his manners, self-forgetful in succouring the needy and the afflicted, he won the hearts of everybody who came in touch with him." (उनके लिये कोई भी कार्य कठिन नहीं था, कोई भी कठिनाई अलंघ्य नहीं थी, कोई भी आदेश अव्यावहारिक नहीं था – जिसे कि वे स्वामीजी के लिये सम्पन्न नहीं कर पाते। उनके उद्यम में वीरता थी, व्यवहार में प्रीति थी और अभावग्रस्त तथा पीड़ितों की सेवा में आत्म-विस्मृति थी। जो कोई भी उनके सम्पर्क में आया, उन्होंने उन सभी का हृदय जय कर लिया।) स्वामीजी के जीवन-चरित तथा रामकृष्ण संघ की विपुल परिधि में स्वामी सदानन्द का एक विशेष स्थान है और वह स्व-महिमा से आलोकित है। सदानन्द-चरित में भी वह महिमा सुन्दर रूप में प्रस्फुटित हुई है, उनके गुरुदेव की बृहत् जीवनी की भाषा में, "His whole character might be summed up in three words – sweetness, sincerity, and manliness." अर्थात् "उनके समग्र चरित्र के वैशिष्ट्य को केवल तीन शब्दों में ही व्यक्त किया जा सकता है – मधुरता, निष्ठा और पौरुष।"[४]

३. Prabuddha Bharata (March 1911)

४. Life of Swami Vivekananda, by His Eastern and Western Disciples.

❑❑❑

कठोपनिषद्-भाष्य (५)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों को खोलकर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं
त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा
निचाय्येमाँ शान्तिमत्यन्तमेति ।।१७।।

अन्वयार्थ – (जो व्यक्ति) **त्रिभिः** माता-पिता और गुरु के साथ **सन्धिम्** सम्बन्ध को **एत्य** प्राप्त होकर (अर्थात् माता-पिता और गुरु से उपदेश पाकर) **त्रिणाचिकेतः** तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करता है (और) **त्रि-कर्म-कृत्** जो स्वाध्याय, यज्ञ तथा दान रूप त्रिविध कर्म करता है, (वह) **जन्म-मृत्यू** जन्म तथा मृत्यु से **तरति** पार हो जाता है; (वह) **ब्रह्म-ज-ज्ञम्** ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ से उत्पन्न सर्वज्ञ **ईड्यम्** स्तुति करने योग्य **देवम्** प्रकाशमान ज्ञानादि गुण-सम्पन्न विराट् पुरुष को **विदित्वा** जानकर **निचाय्य** अपनी आत्मा के रूप में उपलब्धि करके **इमाम्** इस साक्षात्कार जनित **अत्यन्तम्** परम **शान्तिम्** शान्ति को **एति** प्राप्त करता है।

भावार्थ – (जो व्यक्ति) माता-पिता और गुरु के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होकर (अर्थात् माता-पिता और गुरु से उपदेश पाकर) तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन (अनुष्ठान) करता है (और) जो स्वाध्याय, यज्ञ तथा दान रूप त्रिविध कर्म करता है, (वह) जन्म तथा मृत्यु से पार हो जाता है; (वह) हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा से उत्पन्न सर्वज्ञ, स्तुति-योग्य प्रकाशमान, ज्ञान आदि गुणों से सम्पन्न विराट् पुरुष को जानकर, निज आत्मा के रूप में उपलब्धि करके इस साक्षात्कार के उत्पन्न परम शान्ति को प्राप्त करता है।

भाष्य – पुनः अपि कर्म-स्तुतिम् एव आह – त्रिणाचिकेतः त्रिः कृत्वा नाचिकेतः अग्निः चितो येन सः त्रिणाचिकेतः; तद्-विज्ञान-तद्-अध्ययन-तद्-अनुष्ठानवान् वा ।

भाष्य-अनुवाद – (यमराज) एक बार फिर कर्म की स्तुति करते हैं – जिसने नाचिकेत अग्नि का तीन बार चयन किया हो, अथवा जिसने इसे विशेष रूप से जाना हो, अध्ययन या अनुष्ठान किया हो, उसे त्रिणाचिकेत कहेंगे।

त्रिभिः मातृ-पितृ-आचार्यैः एत्य प्राप्य सन्धिं सन्धानं सम्बन्धं मात्रा आदि-अनुशासनं यथावत् प्राप्य-एतत् । तत्-हि प्रामाण्य-कारणं श्रुति-अन्तरात् अवगम्यते यथा 'मातृमान्-पितृमान्-आचार्यवान्-ब्रूयात्' (बृहदा. ४/१/२) इत्यादेः । वेद-स्मृति-शिष्टैः वा प्रत्यक्ष-अनुमान-आगमैः वा । तेभ्यो हि विशुद्धिः प्रत्यक्षा । त्रिकर्मकृत् इज्या-अध्ययन-दानानां कर्ता तरति अतिक्रामति जन्ममृत्यू ।

(ऐसा व्यक्ति) माता, पिता तथा आचार्य – तीनों से सम्बन्ध प्राप्त करके अर्थात् माता आदि से उपयुक्त शिक्षा प्राप्त करके; क्योंकि एक अन्य श्रुति में भी ये ही ज्ञान का प्रामाणिक स्रोत माने गये हैं, यथा 'माता, पिता तथा आचार्य द्वारा सुशिक्षित व्यक्ति को उपदेश देना चाहिये' (बृह. ४/१/२) आदि। अथवा (त्रिभिः का यह अर्थ भी हो सकता है) वेद, स्मृति तथा शिष्ट व्यक्तियों से – अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शास्त्रों से (उचित ज्ञान प्राप्त करके)। क्योंकि इन्हीं (वेदादि तथा प्रत्यक्ष आदि) प्रमाणों से (कर्तव्य आदि का) स्पष्ट बोध होते देखने में आता है। और जिसने तीन प्रकार के कर्म – यज्ञ, अध्ययन तथा दान किया हो; वह जन्म तथा मृत्यु के पार चला जाता है।

किं च, ब्रह्मजज्ञम्, ब्रह्मणः हिरण्यगर्भात् जातो ब्रह्मजः । ब्रह्म-जः च असौ ज्ञः च इति ब्रह्मजज्ञः । सर्वज्ञो हि असौ ।

ब्रह्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ से उत्पन्न ब्रह्मज कहते हैं; और वह जो ब्रह्मज है और ज्ञ (ज्ञाता) भी हो, तो उसे ब्रह्मजज्ञ कहते हैं। वह सर्वज्ञ है।

तं देवं द्योतनात्, ज्ञान-आदि-गुणवन्तम् इड्यं स्तुत्यं विदित्वा गृहीत्वा शास्त्रतः निचाय्य दृष्ट्वा च आत्मभावेन इमां स्वबुद्धि-प्रत्यक्षां शान्तिम् उपरतिम् अत्यन्तम् एति अतिशयेन एति । वैराजं पदं ज्ञान-कर्म-समुच्चय-अनुष्ठानेन प्राप्नोति इत्यर्थः ।।१७।।

द्योतन (प्रकाशमानता) के गुण के कारण उसे देव कहते हैं और ज्ञान आदि के कारण उसे स्तुत्य कहा गया है। ऐसे स्तुत्य देव (विराट्) को शास्त्र के निर्देशानुसार (ध्यान द्वारा) जानकर, अपनी आत्मा के रूप में उसका साक्षात्कार करके, अपनी बुद्धि में प्रत्यक्ष करने योग्य, परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह कि उपासना तथा कर्म-अनुष्ठान के समुच्चय के द्वारा विराट् की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा
य एवं विद्वाँश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।।१८।।

अन्वयार्थ – **यः** जो **एतत्** पूर्वोक्त **त्रयम्** तीनों (यज्ञ के ईंटों का प्रकार, संख्या तथा अग्नि-चयन की विधि) को **विदित्वा** जानकर **त्रिणाचिकेतः** तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करनेवाला **एवम्** इस प्रकार अग्नि (विराट्) को अपना स्वरूप **विद्वान्** जानकर **नाचिकेतम्** नाचिकेत अग्नि का **चिनुते** अनुष्ठान करता है, **सः** वह **पुरतः** देहावसान के पूर्व ही **मृत्युपाशान्** अज्ञान, राग-द्वेष आदि रूपी मृत्यु के बन्धनों को **प्रणोद्य** छिन्न करके **शोक-अति-गः** मानसिक दुखों से अतीत होकर **स्वर्गलोके** विराट् के साथ तादात्म्य रूपी स्वर्गलोक में **मोदते** आनन्द का भोग करता है ।

भावार्थ – जो (यजमान) पूर्वोक्त तीनों (यज्ञ के ईंटों का प्रकार, संख्या तथा अग्नि-चयन की विधि) को जानकर तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करनेवाला, इस प्रकार इस अग्नि (विराट्) को अपना स्वरूप जानकर नाचिकेत अग्नि का अनुष्ठान करता है, वह देहावसान के पूर्व ही – अज्ञान, राग-द्वेष आदि रूपी मृत्यु के बन्धनों को छिन्न करके मानसिक दुखों से अतीत होकर विराट् के साथ तादात्म्य रूपी स्वर्गलोक में आनन्द का भोग करता है ।

भाष्य – इदानीम् अग्निविज्ञान-चयन-फलम् उपसंहरति प्रकरणं च – त्रिणाचिकेतः त्रयं यथोक्तम् 'या इष्टका यावतीः वा यथा वा' इति । एतत् विदित्वा अवगम्य यः च एवम् आत्म -स्वरूपेण अग्निं विद्वान् चिनुते निर्वर्तयति नाचिकेतम् अग्निं क्रतुम्, सः मृत्यु-पाशान् अधर्म-अज्ञान-राग-द्वेष-आदि-लक्षणान् पुरतः अग्रतः पूर्वम्-एव शरीर-पातात् इत्यर्थः, प्रणोद्य अपहाय, शोकातिगः मानसैः दुःखैः विगत इति एतत्, मोदते स्वर्गलोके वैराजे विराट्-आत्मस्वरूप-प्रतिपत्त्या ।।

भाष्य-अनुवाद – अब अग्निविज्ञान तथा उसके चयन का फल बताते हैं और इस प्रकरण का उपसंहार भी करते हैं (यमराज कहते हैं) – जो त्रिणाचिकेत (अर्थात् इस यज्ञ का तीन बार सम्पादन करनेवाला), पहले बताये हुए 'ईंटों के प्रकार, संख्या तथा उन्हें सजाने की विधि' (कठो. १/१/१५) – इन तीनों को जानकर – नाचिकेत अग्नि (विराट्) को इस प्रकार अपनी आत्मा के रूप में (यथाविधि) चयन (सम्पादन) करता है, वह शरीर के नाश आदि के पूर्व से ही अधर्म-अज्ञान-राग-द्वेष-आदि रूपी मृत्यु के बन्धनों का त्याग करके, शोक अर्थात् मानसिक दुखों से मुक्त होकर, विराट् के साथ तादात्म्य की अनुभूति करके स्वर्गलोक अर्थात् विराट् के लोक में आनन्द मनाता है ।

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो
यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास-
स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ।।१९।।

अन्वयार्थ – **नचिकेतः** हे नचिकेता, **यम्** जिस अग्निविद्या को (तुमने) **द्वितीयेण वरेण** द्वितीय वर के रूप में **अवृणीथाः** माँगा था, **ते** तुम्हें **एषः** वही **स्वर्ग्यः** स्वर्गसाधन **अग्निः** अग्नि-विद्या (दी गयी) । **जनासः** लोग **एतम् अग्निम्** इस अग्नि को **तव एव** तुम्हारे ही (नाम से) **प्रवक्ष्यन्ति** उल्लेख करेंगे । **नचिकेतः** हे नचिकेता, **तृतीयम्** तीसरा **वरम्** वर **वृणीष्व** माँगो ।

भावार्थ – हे नचिकेता, जिस अग्निविद्या को तुमने द्वितीय वर के रूप में माँगा था, तुम्हें वही स्वर्गसाधन अग्नि-विद्या दी गयी । लोग इस अग्नि का तुम्हारे ही नाम से उल्लेख करेंगे । हे नचिकेता, अब तीसरा वर माँगो ।

भाष्य – एषः ते तुभ्यम् अग्निः वरः हे नचिकेतः, स्वर्ग्यः स्वर्ग-साधनः, यम् अग्निं वरम् अवृणीथाः प्रार्थितवान् असि द्वितीयेन वरेण, सः अग्निः वरः दत्त इति उक्त उपसंहारः ।

भाष्य-अनुवाद – हे नचिकेता, जो अग्नि स्वर्ग की साधनभूत है और जिस अग्नि को तुमने दूसरे वरदान के रूप में माँगा था, वह अग्नि-विषयक वर तुम्हें दिया गया । जो पहले कहा गया, यह उसी का उपसंहार है ।

किं च, एतम् अग्निं तव एव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति जनासः जनाः इति एतत् । एषः वरः दत्तः मया चतुर्थः तुष्टेन ।

इसके अतिरिक्त, इस अग्नि का लोग तुम्हारे ही नाम से (नाचिकेत अग्नि के रूप में) उल्लेख करेंगे । तुम्हारे ऊपर सन्तुष्ट होकर यह मैंने तुम्हें चौथा वर दिया ।

तृतीयं वरं नचिकेतः वृणीष्व । तस्मिन् हि अदत्ते ऋणवान् अहम् इति अभिप्रायः ।।१९।।

हे नचिकेता, अब तुम मुझसे तीसरा वर माँगो । उनका तात्पर्य यह है कि 'उसे दिये बिना मैं तुम्हारा ऋणी हूँ ।'

आगामी प्रकरण की भूमिका

भाष्य – एतावत् हि अतिक्रान्तेन विधि-प्रतिषेधार्थेन मंत्र -ब्राह्मणेन अवगन्तव्यं यत्-वरद्वय-सूचितं वस्तु न आत्म-तत्त्व-विषय-याथात्म्य-विज्ञानम् ।

अनुवाद – उपरोक्त दो वरों के द्वारा, (वैदिक) मंत्रों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों द्वारा जो विधि-निषेधात्मक (कर्मकाण्ड) जानने के योग्य है, यहाँ तक उन्हीं के बारे में जानकारी प्राप्त हुई, परन्तु आत्मतत्त्व, जो (उपनिषद् का) मूल प्रतिपाद्य है, उसके विषय में सच्चा ज्ञान नहीं मिला है ।

अतः विधि-प्रतिषेधार्थ-विषयस्य आत्मनि क्रिया-कारक -फल-अध्यारोप-लक्षणस्य स्वाभाविकस्य अज्ञानस्य संसार

-बीजस्य निवृत्त्यर्थं तत्-विपरीत-ब्रह्म-आत्मैकत्व-विज्ञानं क्रिया-कारक-फल-अध्यारोपण-शून्यम् आत्यन्तिक-नि:श्रेयस-प्रयोजनं वक्तव्यम् इति उत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते ।

इसके बाद – (शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट) विधि-निषेध के विषय तथा आत्मा में क्रिया-कारक-फल तथा अध्यारोप के रूप में परिलक्षित, संसार (आवागमन) के बीज-रूपी स्वाभाविक अज्ञान की निवृत्ति के लिये – उसके विपरीत, ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व का ज्ञान देना उचित है, जो क्रिया-कारक-फल तथा अध्यारोप से रहित है और परम नि:श्रेयस (कल्याण) का हेतु है, इसीलिये आगे का प्रकरण शुरू किया जाता है।

तम् एतम् अर्थं द्वितीय-वर-प्राप्ति अपि अकृतार्थत्वं तृतीय-वर-गोचरम् आत्मज्ञानम् अन्तरेण इति आख्यायिकया प्रपञ्चयति ।

तृतीय वर के विषय – आत्मज्ञान की प्राप्ति के बिना, उपरोक्त दूसरे वर की प्राप्ति होने से भी कृतार्थता का बोध नहीं हो सकता – यही आख्यायिका के द्वारा विस्तार से बताते हैं।

यतः पूर्वस्मात् कर्म-गोचरात् साध्य-साधन-लक्षणात्-अनित्यात् विरक्तस्य आत्मज्ञाने अधिकार इति तत्-निन्दार्थं पुत्र-आदि-उपन्यासेन प्रलोभनं क्रियते । नचिकेता उवाच 'तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व' इति उक्तः सन् –

चूँकि जो व्यक्ति पूर्व में कथित कर्मकाण्ड के विषय – अनित्य साध्य-साधनों वाले संसार से विरक्त हो गया है, उसी का आत्मज्ञान में अधिकार है, अत: उस (कर्मकाण्ड) की निन्दा के लिये पुत्र आदि के प्रस्ताव द्वारा प्रलोभन दिया जा रहा है। अत: यम द्वारा, 'हे नचिकेता, तीसरा वर माँगो' – कहे जाने पर नचिकेता कहता है – ❖ **(क्रमशः)** ❖

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

आनन्दमय कोश

आनन्दप्रतिबिम्बचुम्बिततनुर्वृत्तिस्तमोजृम्भिता
स्यादानन्दमयः प्रियादिगुणकः स्वेष्टार्थलाभोदयः ।
पुण्यस्यानुभवे विभाति कृतिनामानन्दरूपः स्वयं
सर्वो नन्दति यत्र साधु तनुभृन्मात्रः प्रयत्नं विना ।। २०७

अन्वय – आनन्द-प्रतिबिम्ब-चुम्बित-तनुः तमो-जृम्भिता वृत्तिः आनन्दमयः स्यात्, प्रियादि-गुणकः स्व-इष्टार्थ-लाभ-उदयः कृतिनां पुण्यस्य अनुभवे आनन्दरूपः स्वयं विभाति । यत्र सर्वः तनुभृत्-मात्रः प्रयत्नं विना साधु नन्दति ।

अर्थ – आनन्दमय कोश – आनन्दमय आत्मा का प्रतिबिम्ब -स्वरूप है, परन्तु इसमें आनन्द की वृत्ति अज्ञान के माध्यम से प्रगट होने के कारण, यह तमोगुण से आवृत्त है। यह व्यक्ति के आकांक्षित वस्तुओं की प्राप्ति से उदय होनेवाले प्रिय आदि (प्रिय, मोद, प्रमोद) तीन गुणों से युक्त है। पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले भाग्यवान लोगों को जिस स्वत:स्फूर्त आनन्द का बोध होता है, वह आनन्दमय कोश में ही निहित है। इसी में समस्त देहधारी जीव बिना चेष्टा के ही आनन्द प्राप्त करते हैं।

आनन्दमयकोशस्य सुषुप्तौ स्फूर्तिरुत्कटा ।
स्वप्नजागरयोरीषदिष्टसन्दर्शनादिना ।।२०८।।

अन्वय – सुषुप्तौ आनन्दमयकोशस्य स्फुर्तिः उत्कटा, स्वप्न-जागरयोः इष्ट-सन्दर्शन-आदिना ईषत् ।

अर्थ – सुषुप्ति (प्रगाढ़ निद्रा) के समय (किसी भी विरोधी वृत्ति के अभाव में) आनन्दमय कोश की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है; और स्वप्न व जाग्रत अवस्था के दौरान अपने अभीष्ट वस्तुओं के दर्शन के कारण अल्प अभिव्यक्ति होती है।

नैवायमानन्दमयः परात्मा
सोपाधिकत्वात्प्रकृतेर्विकारात् ।
कार्यत्वहेतोः सुकृतक्रियाया
विकारसंघातसमाहितत्वात् ।।२०९।।

अन्वय – अयं आनन्दमयः न एव परात्मा – सोपाधिकत्वात् प्रकृतेः विकारात् सुकृत-क्रियायाः कार्यत्व-हेतोः विकार-संघात-समाहितत्वात् ।

अर्थ – यह आनन्दमय कोश भी कदापि परमात्मा नहीं है, क्योंकि यह (प्रिय, मोद, प्रमोद आदि) उपाधियों से युक्त है, (यह) प्रकृति का (अविद्याजनित) एक विकार (परिणाम) है, (यह) पुण्य-कर्मों के कार्य (फल) पर निर्भर है और विकारशील अन्य अन्नमय आदि कोशों से आच्छादित है।

पञ्चानामपि कोशानां निषेधे युक्तितः श्रुतेः ।
तन्निषेधावधि साक्षी बोधरूपोऽवशिष्यते ।।२१०।।

अन्वय – युक्तितः श्रुतेः पञ्चानां अपि कोशानां निषेधे तत्-निषेध-अवधिः साक्षी बोधरूपः अवशिष्यते ।

अर्थ – श्रुति (उपनिषद्-वाक्यों) की युक्ति की सहायता से (नेति-नेति विचार के द्वारा) पाँचों कोशों का निराकरण कर दिये जाने के बाद अन्ततः केवल एक साक्षी बोधरूप आत्म-चैतन्य ही बच रहता है।

योऽयमात्मा स्वयंज्योतिः पञ्चकोशविलक्षणः ।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्निर्विकारो निरञ्जनः ।
सदानन्दः स विज्ञेयः स्वात्मत्वेन विपश्चिता ।।२११।।

अन्वय – यः अयम्-आत्मा स्वयंज्योतिः पञ्चकोश-विलक्षणः अवस्था-त्रय-साक्षी सन् निर्विकारः निरञ्जनः सदानन्दः, विपश्चिता सः स्वात्मत्वेन विज्ञेयः ।

अर्थ – यह स्वयंप्रकाश (ज्योतिर्मय) आत्मा – (आनन्दमय आदि) पंचकोशों से भिन्न तथा (जाग्रत आदि) तीनों अवस्थाओं का साक्षी होने के कारण – (जन्म आदि छह) विकारों से रहित, निर्मल, सदानन्द-स्वरूप है और विवेकवान व्यक्तियों द्वारा अपने आत्मा के रूप में जानने योग्य है।

आत्म-स्वरूप-जिज्ञासा

शिष्य उवाच –

मिथ्यात्वेन निषिद्धेषु कोशेष्वेतेषु पञ्चसु।
सर्वाभावं विना किञ्चिन्न पश्याम्यत्र हे गुरो।
विज्ञेयं किमु वस्त्वस्ति स्वात्मनाऽऽत्मविपश्चिता ।।२१२

अन्वय – शिष्य उवाच – हे गुरो! एतेषु पञ्चसु कोशेषु मिथ्यात्वेन निषिद्धेषु, सर्व–अभावं विना अत्र किञ्चित् न पश्यामि। आत्म–विपश्चिता स्व–आत्मना विज्ञेयं किमु वस्तु अस्ति?

अर्थ – शिष्य बोला – हे गुरुदेव, इन पाँचों कोशों को मिथ्या समझकर छोड़ देने के बाद, इस जगत् में मुझे सर्व पदार्थों के अभाव (शून्यता) के सिवा अन्य कुछ भी नहीं दिखता। आत्मविचार करनेवाले व्यक्ति के लिये अपनी आत्मा (मैं) के रूप में जानने को अब कौन-सी वस्तु बच रही?

आत्म-स्वरूप-निरूपण

श्रीगुरुः उवाच –

सत्यमुक्तं त्वया विद्वन्निपुणोऽसि विचारणे।
अहमादिविकारास्ते तदभावोऽयमप्यनु।।२१३।।
सर्वे येनानुभूयन्ते यः स्वयं नानुभूयते।
तमात्मानं वेदितारं विद्धि बुद्ध्या सुसूक्ष्मया ।।२१४।।

अन्वय – श्रीगुरुः उवाच – (हे) विद्वन्, त्वया सत्यम् उक्तम्। विचारणे (त्वं) निपुणः असि। अहम्–आदि–विकाराः ते अनु अयं तद्–अभावः अपि – सर्वे येन अनुभूयन्ते, यः स्वयं न अनुभूयते, सुसूक्ष्मया बुद्ध्या तं वेदितारं आत्मानं विद्धि।

अर्थ – श्रीगुरु बोले – हे विद्वान् शिष्य, तूने ठीक कहा। तू विचार करने में निपुण है। (जाग्रत तथा स्वप्न में) अहंकार आदि विकार और तदुपरान्त (सुषुप्ति में) उसका अभाव भी – यह सब कुछ जिसके द्वारा अनुभव किया जाता है और जो स्वयं अनुभव का विषय नहीं है, उसी ज्ञाता 'आत्मा' को तुम अपनी अति सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा जान लो।

तत्साक्षिकं भवेत्तत्तद्यद्यद्येनानुभूयते।
कस्याप्यननुभूतार्थे साक्षित्वं नोपयुज्यते ।।२१५।।

अन्वय – यत् यत् येन अनुभूयते तत् तत् तत्–साक्षिकं भवेत्। न अननुभूत–अर्थे कस्य अपि साक्षित्वं उपयुज्यते।

अर्थ – जिस-जिस विषय का जिस व्यक्ति को अनुभव होता है, उस-उस विषय के अस्तित्व के साक्षी के रूप में वह अनुभवी व्यक्ति विद्यमान रहता है। (परन्तु) वस्तु की अनुभूति के अभाव में उसके साक्षी का प्रश्न ही नहीं उठता।

असौ स्वसाक्षिको भावो यतः स्वेनानुभूयते।
अतः परं स्वयं साक्षात्प्रत्यगात्मा न चेतरः।।२१६।।

अन्वय – यतः असौ स्वसाक्षिकः भावः स्वेन अनुभूयते, अतः प्रत्यगात्मा स्वयं साक्षात् परम्, इतरः न च।

(साक्षिः अस्ति) (ततः)

अर्थ – चूँकि यह स्वसाक्षी भाव (अस्तित्व) वाली अन्तरात्मा स्वयं ही अपना अनुभव करती है, अत: यह स्वयं ही साक्षात् परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरं योऽसौ समुज्जृम्भते
प्रत्यग्रूपतया सदाहमहमित्यन्तः स्फुरन्नैकधा।
नानाकारविकारभागिन इमान् पश्यन्नहंधीमुखान्
नित्यानन्दचिदात्मना स्फुरति तं विद्धि स्वमेतं हृदि।।२१७

अन्वय – यः असौ प्रत्यक्-रूपतया सदा 'अहम्'-'अहम्' इति न एकधा, अन्तः स्फुरन् जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिषु स्फुटतरं समुज्जृम्भते, नाना-आकार-विकार-भागिनः इमान् अहं-धी-मुखान् -पश्यन् हृदि नित्यानन्द–चिदात्मना स्फुरति, तं एतं स्वं विद्धि।

अर्थ – वह जो अन्तरात्मा के रूप में, निरन्तर 'मैं'-'मैं' के रूप में, अन्तर में अनेकों प्रकार से स्फुरित होता है और जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति (इन तीन अवस्थाओं) में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है, इस विभिन्न प्रकार के आकार-विकार धारण करनेवाले अन्त:करण (मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार) को (साक्षी रूप से) देखता हुआ, जो नित्य-आनन्द-चैतन्य-स्वरूप हृदय में स्फुरित होता है, उसी (आत्मा) को तुम अपने स्वरूप के रूप में जानो।

❖ (क्रमशः) ❖

उपनिषदों पर दो जर्मन दार्शनिकों के उद्‌गार

सम्पूर्ण विश्व में उपनिषदों के समान जीवन को ऊँचा उठानेवाला कोई दूसरा अध्येय विषय नहीं है। इनसे मेरे जीवन को शान्ति मिली है और इन्हीं से मुझे मृत्यु में भी शान्ति मिलेगी। – ***शापेनहावर***

उपनिषदों के भीतर जो दार्शनिक कल्पना है, वह भारत में तो अद्वितीय है ही, सम्भवत: सम्पूर्ण विश्व में अतुलनीय है। – ***पॉल डायसन***

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प
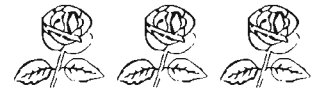
डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१८६. अति सर्वत्र निषिद्ध है

एक बार बादशाह ने बीरबल से कहा – मेरी एक पहेली का उत्तर बताओ –

कौन बोलने को चहे, कौन चहे है चूप ।
कौन चहे है बरसना, कौन चहे है धूप ।।

बीरबल ने इसका उत्तर दोहे में ही देते हुए कहा –

साईं चाहे बोलना, चोर चहे है चूप ।
माली बरसन को चहे, धोबी के मन धूप ।।

अकबर ने कहा, ''उत्तर तो मिल गया, मगर यदि इसे ठीक से समझाओगे, तभी आशय समझ में आयेगा।'' बीरबल बोले, ''ठीक है, मैं इसे एक दृष्टान्त के द्वारा समझाने की कोशिश करता हूँ।

एक गरीब किसान ने अपनी बड़ी बेटी का ब्याह एक माली के घर में और छोटी बेटी का ब्याह कुम्हार के घर में किया। एक साल बाद जब वह अपनी बड़ी बेटी – मालिन का हाल-चाल जानने के लिये उसके घर गया, तो उसने बताया, ''इस साल पर्याप्त वर्षा न होने से हम लोग बड़े परेशान हैं। सारा बगीचा सूख गया है। फूल-फल कुछ भी नहीं आ रहे हैं। खेत में फसल भी नहीं हुई। अकाल की सी हालत हो गई है।'' पिता ने चुप रहना बेहतर समझा और केवल मौन सहानुभूति ही दिखाई। थोड़ी देर बाद वह बोली, ''मैं तालाब से पानी लेकर आती हूँ। आप भोजन करने के बाद ही घर जाना।'' पिता ने कहा, ''बेटी, मुझे जल्दी जाना है। अगली दफा जब आऊँगा, तो भोजन करके जाऊँगा।'' यह कहकर वह छोटी बेटी के गाँव जा पहुँचा।

इस दूसरी कुम्हारिन बेटी के घर जाकर उससे हाल-चाल पूछने पर वह बोली, ''पिताजी, आपसे अपना दुख क्या छिपाऊँ? इस साल इतनी बारिश हुई है कि रुकने का नाम ही नहीं ले रही है। आवाँ लगाने के लिये न कण्डे मिल रहे हैं और न चूल्हा जलाने के लिए सूखी लकड़ियाँ। बारिश के कारण ईंटें भी तैयार नहीं हो पा रही हैं। न मालूम यह बारिश कब बन्द होगी।'' वह इतना कहकर शान्त नहीं हुई, बल्कि उसने बारिश द्वारा ढाये गये कहर का विस्तृत वर्णन शुरू कर दिया। किसान उसका दुखड़ा सुनते-सुनते ऊबने लगा और बोला, ''मुझे जल्दी घर जाना है। मैं ज्यादा देर रुक नहीं सकता।'' यह कहकर वह घर लौट आया।

बीरबल ने आगे कहा, ''इस दृष्टान्त का आशय यह है कि दोनों बेटियाँ दुखी थीं। एक अति-वर्षा के कारण तंग थी, तो दूसरी अनावृष्टि से परेशान थी। एक ने अपनी व्यथा सुनाकर पिता को चिन्ता में न डालना ही उचित समझा; और दूसरी के अधिक बोलने से पिता ऊब गया था।

इस तरह अधिक बोलना ठीक नहीं और कम बोलना भी उचित नहीं। इस स्पष्टीकरण से अकबर सन्तुष्ट हो गया।

१८७. बादशाह का न्याय

शेरशाह सूरी का बेटा घोड़े पर बैठकर पान चबाते हुए राजधानी की सड़कों से जा रहा था। एक किराने की दुकान पर उसे एक खूबसूरत युवती दिखाई दी। उच्छृंखल तथा दम्भी शाहजादे ने पान के दो बीड़े उस युवती पर फेंके और हँसकर उसकी ओर देखते हुए आगे निकल गया। यह बात जब युवती के पति को ज्ञात हुई, तो उसने दरबार में जाकर शाहजादे की गुस्ताखी की शिकायत की। सुनकर बादशाह को भी बहुत बुरा लगा। उसने अपने बेटे तथा बहू को दरबार में बुलवाया; पान के दो बीड़े भी मँगवाये और उन्हें फरियादी को देते हुए कहा, ''जैसे शाहजादे ने तुम्हारी बीवी पर बीड़े फेंकने की जुर्रत की थी, तुम्हारा भी फर्ज बनता है कि ये बीड़े तुम उसकी बीबी पर फेंककर उससे बदला लो।''

सुनकर सारे दरबारी स्तब्ध रह गये। दुकानदार को भी बादशाह से ऐसे आदेश की उम्मीद न थी। वह सोच रहा था कि उसे धक्के मारकर भगा दिया जाएगा। बादशाह का फैसला सुनकर वह गद्‌गद हो गया। उसने शरमिंदगी भी महसूस की। उसने बादशाह से कहा, ''हुजूर, आप मुझे ऐसा गलत काम करने के लिये मजबूर मत कीजिये। मुझे न्याय मिल चुका है। मेरी आपसे विनती है कि आप शाहजादे के विरुद्ध कोई कार्रवाई न करें।'' बादशाह ने बेटे को दुकानदार से माफी माँगने को कहा। उसके द्वारा माफी माँगने पर बादशाह ने कहा, ''प्रजा की रक्षा करना और उसे खुशहाल बनाना राजा का फर्ज है। जवानी, दौलत, सत्ता और मगरूरी आदमी को गलत काम करने को उकसाती है। मगर उसे खुद पर नियंत्रण रखकर पाक-दामन रहना चाहिये। अगर राजा भी लगाम न लगाये, तो देश में अराजकता फैलेगी, सभी लोग मनमानी करने लगेंगे और यह राज्य के लिये नुकसानदायक साबित होगा।''

रामकृष्ण मिशन, नारायणपुर (छ.ग.) में मुख्यमन्त्री द्वारा आश्रम की रजत-जयन्ती एवं एजुकेशनल कम्पलेक्स का उद्घाटन

१५ दिसम्बर, २०१० को अपराह्न १ बजे छत्तीसगढ़ के माननीय मुख्यमन्त्री डॉ. रमन सिंह और रामकृष्ण मिशन (बेलूड़ मठ) के महासचिव स्वामी प्रभानन्द जी ने नारायणपुर के रामकृष्ण मिशन आश्रम के नवनिर्मित एजुकेशनल कम्प्लेक्स (शैक्षणिक परिसर) का उद्घाटन किया। करोड़ों की लागत से बने इस कम्प्लेक्स में नारायणपुर तथा आसपास के गाँवों के लगभग १२०० बच्चे नि:शुल्क कोचिंग प्राप्त करते हैं। बच्चों के शैक्षणिक एवं व्यक्तित्व-विकास हेतु यहाँ विभिन्न प्रकार की गतिविधियाँ चलायी जाती हैं। अतिथियों का स्वागत करते हुये रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर के सचिव स्वामी व्याप्तानन्द जी ने कहा कि सरकार हमारी पूरी सहायता करे, तो हम पूरे बस्तर को शिक्षित बना देंगे। उन्होंने मुख्यमन्त्री डॉ रमन सिंह जी से कहा कि हमारी पूरी सफलता शिक्षकों एवं कर्मचारियों पर आधारित है, जो कि इतने सुदूर जंगल में जाकर कार्य करते हैं। अत: उन्हें छठवाँ वेतनमान एवं अन्य आवश्यक सुविधाएँ दी जायँ। रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने कहा कि आज जिस आश्रम का विराट् रूप देखने को मिल रहा है, इसकी शुरुआत स्वामी आत्मानन्द जी ने एक छोटे से कमरे में की थी। उन्होंने आदिवासियों की समस्या को देखा और समझा। उन्होंने देखा कि सरल आदिवासियों को अपने उत्पादों का सही मूल्य नहीं मिल पाता। उन्होंने यहाँ के आदिवासियों को शिक्षा देकर उनकी मानसिकता तथा रहन-सहन में बदलाव लाने का संकल्प लिया, जो आज उत्तम रूप से कार्य रूप में परिणत हो रहा है।

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्दजी ने कहा, ''रामकृष्ण मिशन बच्चों के चरित्र-निर्माण पर जोर देता है। स्वामी विवेकानन्दजी ने मनुष्य-निर्माण की बात कही है। हमारे बच्चे सुबह उठकर मन्दिर में जाकर प्रार्थना करते हैं, खेलते-कूदते हैं, स्कूल में पढ़ने जाते हैं, आदि आदि। इससे इनमें अच्छे संस्कार पड़ रहे हैं। इनके चरित्र का निर्माण हो रहा है। ऐसे बच्चे ही देश के सर्वांगीण विकास के लिये समर्पित होंगे। रामकृष्ण मिशन समाज के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करता है, जिससे समाज को एक दिशा मिले। छत्तीसगढ़ को शिक्षित एवं सम्पन्न बनाने के लिये सभी लोगों को सामने आना होगा और रामकृष्ण मिशन द्वारा प्रस्तुत आदर्श को अपनाकर अपना तथा सबका विकास करना होगा। जितनी सरकारी और प्राइवेट संस्थाएँ हैं, वे अपने स्कूलों आदि में हमारे यहाँ के आदर्श – अनुशासन, सदाचार, सद्भावना, बच्चों के सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास आदि को लागू करके राज्य और देश के विकास में सहायता कर सकते हैं।''

माननीय मुख्यमन्त्री डॉ. रमन सिंह ने कहा कि इन सभी कार्यों के पीछे श्रीरामकृष्ण परमहंस की ही प्रेरणा है। अबूझमाड़ के सुदूर अंचलों – जंगलों में काम कर रहे सभी लोगों को मैं बधाई देता हूँ। आश्रम का आज का यह विराट् स्वरूप केवल शुरुआत भर है। हमारी इच्छा है कि आनेवाले दिनों में यह देश का सबसे जागृत केन्द्र बने। आई.टी.आई के प्रशिक्षण से बच्चे स्वावलम्बी बनेंगे। आपकी माँगें हमारे पास सुरक्षित रखी हुई हैं। आपने इशारा कर दिया। अब आगे हमारी जिम्मेदारी है। हम जनवरी में एक स्वास्थ्य-मेला (हेल्थ-कैम्प) लगाने जा रहे हैं, जिसमें अच्छे चिकित्सकों के द्वारा सभी रोगों की नि:शुल्क जाँच एवं इलाज करेंगे, चाहे उसमें जितने रुपये भी क्यों न खर्च हों।

इस कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुये रामकृष्ण मिशन के महासचिव स्वामी प्रभानन्दजी ने कहा – ''अन्य आदिवासी क्षेत्रों की अपेक्षा यहाँ के बच्चों में सम्भावनायें अधिक हैं। अत: उनके सर्वांगीण विकास हेतु प्रयास करना चाहिये। उन्होंने भागवत में उल्लिखित सेवा के आदर्श को प्रस्तुत किया, जिसमें कहा गया है – **अर्हयेद् दान-मानाभ्यां मैत्र्या अभिन्नेन चक्षुषा** – अर्थात् हमें किसी की सेवा सम्मान तथा सद्भावपूर्वक, अभेद दृष्टि से, भेदभाव से रहित होकर तथा मित्रभाव से करनी चाहिये।'' उनके इस अँग्रेजी व्याख्यान का हिन्दी रूपान्तरण विवेकानन्द विद्यापीठ के प्राचार्य स्वामी सर्वहितानन्द जी ने सुनाया।

अन्त में एजुकेशनल कम्प्लेक्स के संचालक स्वामी विभानन्द जी महाराज ने बड़े ही भावुक होकर समागत सभी अतिथियों को धन्यवाद ज्ञापित किया। वास्तव में विभानन्द जी महाराज ही एजुकेशनल कम्प्लेक्स के स्वप्नद्रष्टा हैं। अपने इस स्वप्न को साकार करने के लिये शासन आदि से

सहयोग के लिये इस ढलती उम्र में भी उन्होंने अथक परिश्रम किया। अपने अतिश्रम एवं दृढ़ इच्छाशक्ति के सुपरिणाम को प्रत्यक्ष देखकर वे अत्यन्त भाव-विह्वल हो गये थे।

इस सभा में अनेकों मंत्रीगण, अधिकारी, शिक्षक, कर्मचारी, आश्रम के संन्यासी-ब्रह्मचारी एवं कोचिंग सेंटर के लगभग १००० बच्चे उपस्थित थे।

महासचिव स्वामी प्रभानन्द जी महाराज द्वारा आई.टी.आई. भवन का शिलान्यास

उसी दिन प्रात:काल करीब १० बजे रामकृष्ण मिशन के महासचिव स्वामी प्रभानन्दजी महाराज ने आई.टी.आई. (औद्योगिक प्रशिक्षण केन्द्र) के भवन का शिलान्यास किया। इस कार्यक्रम में स्वामी निखिलात्मानन्द जी, स्वामी सत्यरूपानन्द जी, स्वामी व्याप्तानन्द तथा अन्य साधु-ब्रह्मचारी भी उपस्थित थे।

आई.टी.आई. का पहला सत्र फरवरी, २०११ से प्रारम्भ होने जा रहा है। इसमें नारायणपुर जिले के आदिवासी बच्चों को नि:शुल्क प्रशिक्षण प्रदान किया जायेगा।

आश्रम रजत-जयन्ती के उपलक्ष्य में सभा का आयोजन

उसी दिन मन्दिर में संध्या-आरती के बाद ७ बजे से आश्रम की रजत-जयन्ती के उपलक्ष्य में आश्रम के सभागृह में एक सभा का आयोजन किया गया था। स्वामी निखिलात्मानन्द जी महाराज ने आश्रम के प्रारम्भ में आदिवासी लोगों की प्रखर बुद्धि विषयक कई रोचक घटनायें सुनाईं, जिससे सभागृह हँसी के ठहाकों से गुंजायमान हो उठा। उनमें से एक घटना इस प्रकार थी – एक बार सरकार ने सभी आदिवासियों को खेती करने के लिये ऋण के आधार पर एक-एक बैल दिया। छह महीने बाद रुपये वापस करने थे। सभी आदिवासी सरकार द्वारा दिये गये बैलों को स्वयं ही मारकर खा गये। छह माह बाद जब अधिकारियों ने रुपयों की माँग की, तो सभी आदिवासी बैलों की पूँछ तथा सिंग लेकर उपस्थित हो गये। उन लोगों ने कहा – सर, आपके बैल को तो बाघ खा गया। अधिकारियों ने पूछा – तुम्हारे अपने पशु तो सभी सुरक्षित हैं, लेकिन हमारे दिये हुये बैल को ही बाघ क्यों खा गया? इसके उत्तर में आदिवासियों ने कहा – सर, हमारे बैल तो बाघ को पहचानते हैं और बाघ भी हमारे बैलों को पहचानता है, इसलिये वे बाघ को देखते ही भाग जाते हैं और बाघ भी उन्हें नहीं खाता। पर आपके बैल को न बाघ पहचानते हैं और न आपके बैल ही बाघों को पहचानते हैं, इसलिये बाघ उन्हें खा गया। आत्मानन्द जी को तभी आदिवासियों की इस प्रखर बुद्धि का परिचय मिला था।

आदिवासी लोग शुरू में गेरुए वस्त्र धारण करनेवाले संन्यासियों को लाल कपड़ेवाले साहब कहते थे। एक बार आदिवासियों ने कहा था कि लाल कपड़ेवाला साहब अच्छा आदमी है। वह जब आता है, तो खिचड़ी खिलाता है। पर दूसरा साहब जब आता है, तो हम लोगों से मुर्गा माँगता है।

स्वामी प्रभानन्द जी महाराज ने छात्रों को परामर्श दिया कि वे बड़े होकर अपनी जन्मभूमि बस्तर को न भूलें और अपने विकास में सहायक इस आश्रम को भी विस्मृत न करें।

सभा की अध्यक्षता करते हुये स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने धर्म के विभिन्न व्यावहारिक पक्षों पर विचार प्रकट किये। स्वामी त्यागव्रतानन्द जी ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

रामकृष्ण मिशन, नारायणपुर को 'इन्दिरा गाँधी पुरस्कार'

आदिवासी अंचल में महत्त्वपूर्ण सेवा के लिये रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर को इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार प्रदान किया गया। यह पुरस्कार ३१ अक्तूबर, २०१० को नई दिल्ली में त्रिमूर्ति भवन में आयोजित सभा में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की अध्यक्षा श्रीमती सोनिया गाँधी ने नारायणपुर आश्रम के सचिव स्वामी व्याप्तानन्द जी को प्रदान किया। उस सभा में भारत के प्रधानमन्त्री डॉ. मनमोहन सिंह, श्री मोतीलाल बोरा और अन्य अनेक मंत्री, अधिकारी तथा गण्यमान्य लोग उपस्थित थे। ❑ ❑ ❑

प्रत्येक सम्प्रदाय एक ही ईश्वर की ओर ले जाता है

हर एक व्यक्ति को अपने स्वधर्म का ही पालन करना चाहिए। ईसाई को ईसाई धर्म का, मुसलमान को मुसलिम धर्म का पालन करना चाहिए। हिन्दुओं के लिए प्राचीन आर्य ऋषियों का सनातन मार्ग ही श्रेयस्कर है। जब तुम बाहर के लोगों के साथ मिलो, तो सबसे प्रेम करो, हिल-मिलकर एक हो जाओ – द्वेषभाव तनिक भी न रखो। 'वह साकारवादी है, निराकार नहीं मानता', 'वह निराकारवादी है, साकार नहीं मानता', 'वह हिन्दू है, वह मुसलमान है, वह ईसाई है' – इस प्रकार किसी के प्रति नाक-भौं सिकोड़ते हुए घृणा मत प्रकट करो। भगवान ने जिसको जैसा समझाया है, उसने उन्हें वैसा ही समझा है। – *श्रीरामकृष्ण*